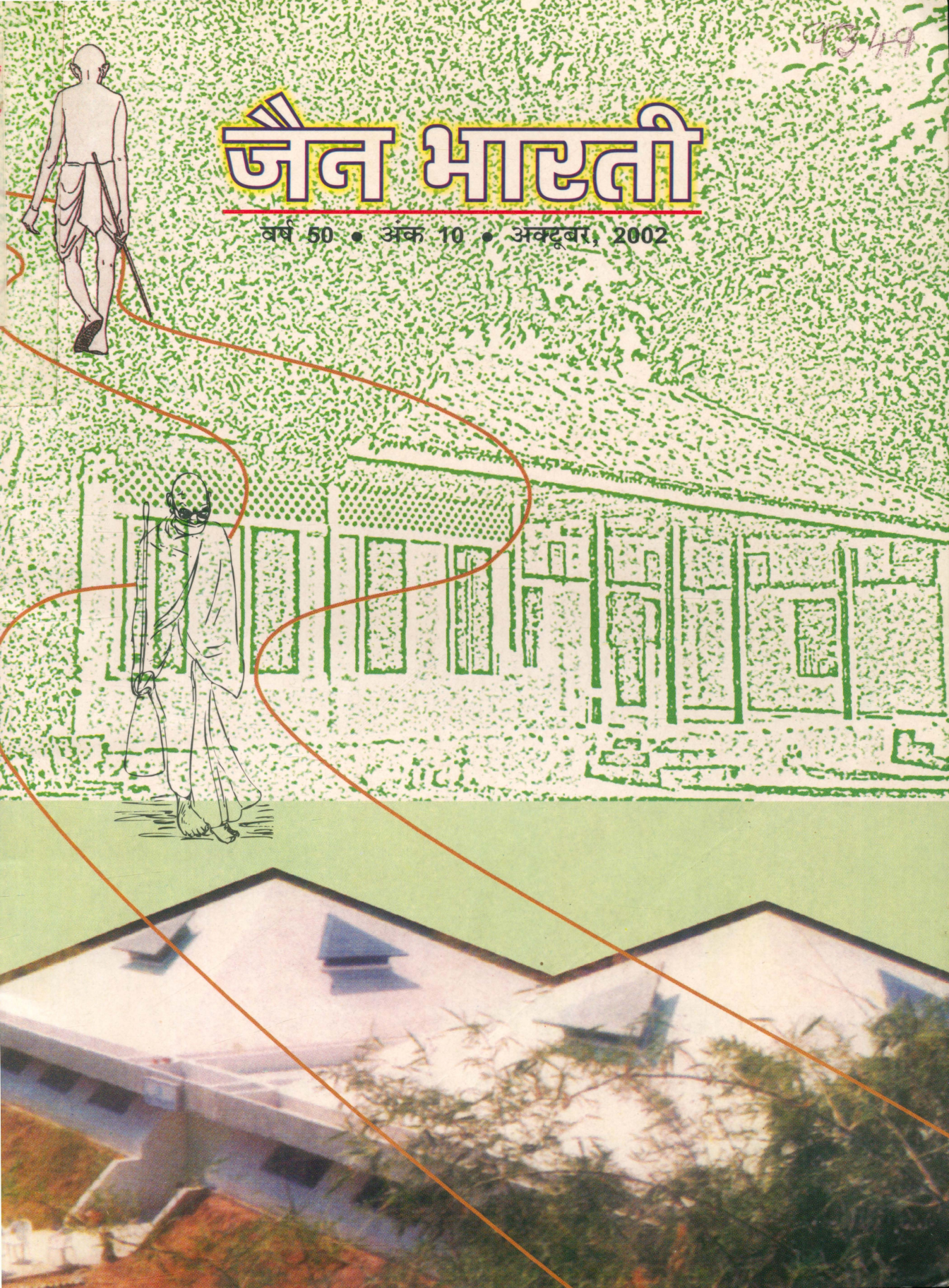

जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 10 • अक्टूबर, 2002

With best compliments from :

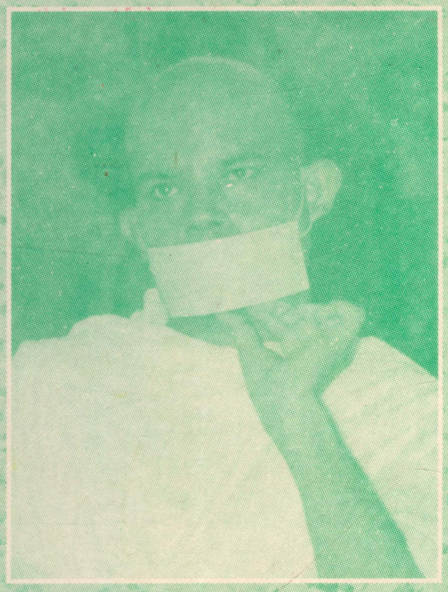

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT- SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

अक्टूबर, 2002 • वर्ष 50 • स्वर्ण जयंती वर्ष • अंक 10 • रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
प्रेक्षाध्यान और प्रचलित ध्यान विधियां

17
शीन काफ़ निज़ाम
प्रौद्योगिकी : स्वतंत्रता और सत्य की खोज

21
डॉ. राधाकुमारी
गांधी का मानवीय अर्थशास्त्र

•

आवरण
खेराज

अनुभूति

27
प्रो. एस. के. पारख
संदेश काव्य परंपरा एवं जैन कवि

29
मुनि जयन्तकुमार
विकास अभिक्रम के सेतु-पथ

33
साध्वी श्रुतयशा
साधना अमृतसिद्धि योग की

35
कहानी
राजेश जोशी
मैं हवा पानी परिंदा कुछ नहीं...

42
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
धर्म का प्रायोगिक रूप

शीलन

45
मुनि किशनलाल
स्वस्थ समाज संरचना के संकल्प

49
साध्वी कान्तयशा
मत बोलो अणगमती वाणी

51
साध्वी मुदितयशा
हिंसा : कारण—निवारण

53
बालकथा
सत्यदेव बारहठ
चतुर स्वर्णकार

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 270305, 202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 125/- रुपये • त्रैवार्षिक 350/- रुपये • दसवर्षीय 1000/- रुपये

संस्कृति ऐसी चीज नहीं कि जिसकी रचना दस-बीस या सौ-पचास वर्षों में की जा सकती हो। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राज-काज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति उत्पन्न होती है। हम जो-कुछ भी करते हैं उसमें हमारी संस्कृति की झलक होती है; यहां तक कि हमारे उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने और रोने-हंसने में भी हमारी संस्कृति की पहचान होती है, यद्यपि हमारा कोई भी एक काम हमारी संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकता। असल में, संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है, यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए, जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वे भी हमारी संस्कृति के अंग बन जाते हैं और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए, संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मांतर तक करती है। अपने यहां एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार है, उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है। जब हम किसी बालक या बालिका को बहुत तेज पाते हैं तब हम अचानक कह उठते हैं कि पूर्वजन्म का संस्कार है। संस्कार या संस्कृति, असल में, शरीर का नहीं आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा संबंध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मांतर तक चलता रहता है।

—रामधारीसिंह दिनकर

जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अकसर साध्य का ही अंत कर देते हैं। देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है अहिंसा। किंतु जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है। जो हिंसा के द्वारा धर्म करना चाहता है वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यक्दृष्टि वह है जो धर्म के लिए हिंसा नहीं करता।

लोहू से लिपटा हुआ पीतांबर लोहू से साफ नहीं होता। इसी प्रकार हिंसा से हिंसा का शोधन नहीं होता।

हिंसक वही है जो हिंसा करे, जिसके मन में हिंसा का भाव हो। अहिंसक भी वही है जो अहिंसा का पालन करे, जिसके मन में अहिंसा का भाव हो। बलात् किसी को हिंसक या अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। भोग धर्म नहीं है, यह जानकर यदि कोई बलात् किसी के भोगों का विच्छेद करता है तो वह अधर्म करता है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

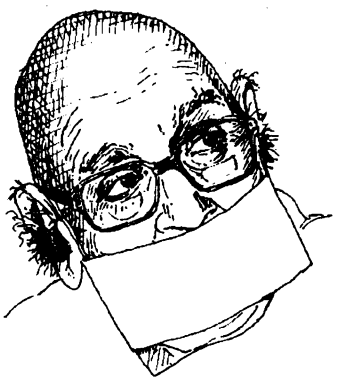

मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व भावों पर निर्भर है। फिर भी हर व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसमें किस प्रकार के भाव सक्रिय हैं। जिसके मन में जिज्ञासा जाग जाती है, उसके लिए समाधान का रास्ता भी बंद नहीं है। जैन आगमों में अठारह प्रकार के पापों का उल्लेख है। हिंसा, असत्य, चोरी, वासना, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य—ये अठारह पाप निषेधात्मक भाव हैं। इनमें कुछ भावों का संबंध समूह के साथ है, कुछ भाव वैयक्तिक हैं। इनमें कुछ भाव ऐसे हैं, जो व्यक्ति और समूह दोनों से जुड़े हुए हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये भाव वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों हैं। कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद आदि भाव पर-सापेक्ष हैं। समूह में रहने वाला व्यक्ति स्वार्थ, सुविधा, प्रतिष्ठा या प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर इस प्रकार के भावों को जन्म देता है। कुछ व्यक्ति अकारण ही इन निषेधात्मक भावों के शिकार हो जाते हैं। उनके बारे में यही माना जा सकता है कि ऐसे लोग या तो आदत से विवश हैं या आत्मप्रतिष्ठ क्रोध आदि की प्रेरणा से अभिभूत हैं।

ऊपर जिन निषेधात्मक भावों की चर्चा की गई है, उनसे विपरीत भावों को विधायक भाव के सहज रूप में पहचाना जा सकता है। इनमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, सहिष्णुता, कोमलता, सरलता, संतोष, मैत्री, गुणग्राहकता आदि प्रशस्त भावों का समावेश होता है।

—आचार्य तुलसी

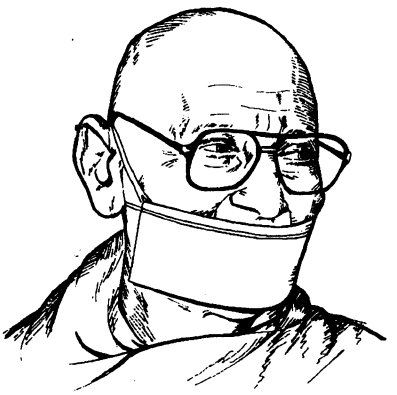

धर्म का अर्थ है अपने कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि) पर नियंत्रण करना, नियंत्रण की शक्ति के विकास की साधना करना। अदृश्य या अगम्य के प्रति अनास्था हो सकती है। अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण करना जीवन के लिए श्रेयस्कर है। यह दृश्य और बुद्धिगम्य है। मानसिक तनावमुक्ति और मानसिक शांति का जीवन जीने के लिए यह आवश्यक है। इसमें अनास्था का प्रश्न कहां है? जो लोग धर्म के प्रति अनास्था की बात कहते हैं, वे धर्म का हार्द समझे बिना ही कहते हैं। आत्मा, परमात्मा जैसे बुद्धि से अगम्य तत्त्वों के प्रति अनास्था हो सकती है, किंतु मन और भावना के स्तर पर धर्म की बात करते हैं, वहां अनास्था का प्रश्न कैसे हो सकता है? अरुचि को रुचि में बदला जा सकता है। उपयोगिता का बोध और सम्यक् संपर्क—ये दोनों अरुचि को रुचि में बदल देते हैं। पर्यावरण का प्रदूषण न हो, हिंसा की बढ़त रुके, आतंकवादी प्रवृत्तियां न हों, शोषण न हो—समाज की भूमिका में ये सारी बातें कही जा रही हैं, क्या ये धर्म की बातें नहीं हैं? कोई भी व्यक्ति और समाज—अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांतात्मक धर्म के बिना स्वस्थ नहीं रह सकता, इसलिए धर्म का नाम लें या न लें, धर्म की सचाई को स्वीकार करना ही होता है।

जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है—अनेकांत। उसे हृदयंगम कर सत्य को जाना जा सकता है, जीया जा सकता है। जीवन एक सचाई है। सब लोग जी रहे हैं। उस सचाई को समझने के लिए अनेकांत की दृष्टि का प्रयोग आवश्यक है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
अक्टूबर, 2002

प्रसंग

धर्म का प्रायोगिक रूप

ठहरा हुआ पानी जैसे विकारग्रस्त माना जाता है—ठीक उसी तरह क्या धर्म भी 'जड़' हो जाता है? क्या धर्म में फिर भी 'नवाचारों' की संभावना शेष रहती है? धर्म क्या ऐसी कठोर 'कारा' है कि स्वच्छ प्राणवायु और नव-प्रकाश उसमें आना ही वर्जित है? क्या देश, काल और परिस्थिति की वास्तविकताओं की अनदेखी 'धर्म' को करनी चाहिए? क्या इनकी अनदेखी कर समाज टिका रह सकता है? और तब क्या धर्म भी टिका रह सकता है?

बहुत सहज और सरल परिभाषा करते हुए धर्म के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'अप्रमाद धर्म है।' वे आगे कहते हैं—'जितनी आकांक्षा उतनी परतंत्रता और जितनी अनासक्ति उतनी स्वतंत्रता।' यदि हम कबीर के संपूर्ण जीवन को देखें तो पाएंगे कि कबीर ने पूरा जीवन इसी तरह जीया। कबीर ने धर्म के 'जड़' रूप की जिस तरह से धज्जियां उड़ाई हैं—वह विरल घटना है, और कबीर से अधिक धार्मिक व्यक्ति भी दूसरा कौन है? लेकिन कबीर का-सा जीवन आज कोई जी पा रहा है? क्या 'अप्रमत्त धर्म' की संभावना कहीं तलाश की जा सकती है? आज जब सब ओर धर्म के नाम पर ही भारी वितंडावाद होता हो तो इस स्थिति में क्या हम किसी 'पथ-दर्शक धर्म' की आशा कर सकते हैं?

एक तरफ धर्म की चर्चा में अक्सर यही सुना जाता है कि—यह संसार दुखों से भरा है। मनुष्य-जीवन को नारकीयता से मुक्त करने के लिए अनेक प्रकार के नकारात्मक और वर्जनामूलक उपदेश सुनने को मिलते हैं। पाप का डर इस तरह दिखाया जाता है जैसे लगे कि इस 'संसार' में जन्म ही क्यों लिया? अलबत्ता जन्म लेना किसी के हाथ में नहीं है—यह हर कोई जानता है। धर्म की कोई पथ-दर्शक भूमिका भी क्या हो सकती है?

धर्म के ऐसे 'रूढ़' रूप में से एक स्वच्छ-साफ झलक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के इस कथन में देख सकते हैं, वे कहते हैं—'धर्म भी प्रायोगिक होना चाहिए।' वे मानते हैं कि—'धर्म अनेक समस्याओं को सुलझाने और अनेक रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए बहुत उपयोगी है। अध्यात्म के आचार्यों ने अनुभव के आधार पर रहस्यों की खोज की थी। अपने अनुभवों को शास्त्रों में संकलित किया था। अनुभव की वाणी को साधना के द्वारा ही समझा जा सकता है। उसे समझने का दूसरा उपाय है—प्रयोग। धर्म भी प्रायोगिक होना चाहिए।'

जब आचार्यश्री महाप्रज्ञजी धर्म के मर्म को समझने के लिए साधना से इतर प्रयोग की बात करते हैं तो इस कथन में यह बात निहित है कि वे धर्म के स्वरूप को 'जड़' रूप में नहीं, अपितु देश, काल और परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में भी देख रहे होते हैं। इसी रूप में वे उसे ढालने की दिशा पर भी विचार करते हैं। यहीं हमें यह मानना होगा कि तब ऐसा धर्म नकारात्मक या वर्जनामूलक नहीं माना जा सकता। तब पाप का डर दिखाकर नहीं, युगीन परिस्थितियों में झांककर सकारात्मक दृष्टिकोण के विकास की बात धर्म से प्रसूत होती मानी जाएगी। यहीं पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी धर्म को वैज्ञानिक दृष्टिकोण देने की बात भी कहते हैं। वे कहते हैं—'विज्ञान प्रायोगिक दर्शन है।' वे आगे कहते हैं—'साधना-ग्रंथों में सूत्र उपलब्ध हैं। उनके रहस्य और चाबियां उपलब्ध नहीं हैं। विज्ञान के द्वारा वे उपलब्ध हो जाएं तो धर्म से विज्ञान और विज्ञान से धर्म कितना लाभान्वित हो सकता है।' वर्तमान परिप्रेक्ष्य में धर्म की यह उपादेयता यदि स्थापित की जाए तो धर्म के माध्यम से उन सभी सवालों के

उत्तर मिल सकते हैं जो हमने ऊपर उठाए हैं। तब धर्म ऐसी कठोर 'कारा' नहीं मानी जाएगी जहां स्वच्छ-निर्मल वायु व प्रकाश प्रवेश ही न कर सके। तब धर्म प्रतिपल नवाचारों से स्फुरित होगा।

यहां हमारे सामने एक बात स्पष्ट होनी चाहिए। जीवन के शाश्वत सूत्र हैं—सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा। पांच महाव्रतों के रूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सिद्धांतों को हम अपने दैनंदिन जीवन का अंग कैसे बना सकते हैं? इन शाश्वत सूत्रों को धर्म के 'रूढ़-रूप' ने काफी क्षति पहुंचाई है। धर्म, संप्रदाय और सांप्रदायिकता की छवि में जो घाल-मेल हो चुका है—उसने इन शाश्वत सूत्रों को भी अपनी प्रेत-छाया से ग्रसा है और जीवन-मूल्यों के रूप में अंगीकार करने के स्थान पर इनका माला-जाप ही अधिक किया जा रहा है। इस हालत ने धर्म को भी क्षतिग्रस्त किया है। धर्म पर मल्हम-पट्टी करने का बड़बोलापन यदि न भी किया जाए तो अहिंसा, सत्य, प्रेम और करुणा जैसे जीवन-मूल्य हमारी जीवन-शैली के अंग कैसे बन सकते हैं—यह विचार होना चाहिए। कहना होगा—'धर्म के प्रायोगिक रूप' से—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान के माध्यम से उन्होंने धर्म के अनछुए फलक खोले हैं। सत्य और अहिंसा की बात कोरा माला-जाप न रहे, करुणा और प्रेम का स्रोत प्राणीमात्र के प्रति जन-जन में कैसे फूटे—यह बात धर्म के प्रायोगिक रूप-स्वरूप से प्रस्फुट होती प्रतीत होती है।

धर्म-साधना में ध्यान की अनेक विधियां हैं, लेकिन उन विधियों के प्रति आम-जन का सरोकार कैसे स्थापित हो? यह तभी हो सकता है जब इन्हें धर्म के रूढ़ अर्थ से मुक्त कराया जाए, बाहर निकाला जाए। इन विधियों को सामान्य आदमी, सामान्य स्थितियों में भी अंगीकार कर सकता है—यह बात आम-जन के गले उतारी जाए और इस भय से भी उसे मुक्त किया जाए कि ध्यान की ऐसी विधियों के लिए किसी प्रकार की विशेष साधना अनिवार्य है। प्रेक्षाध्यान की विधि का प्रतिपादन ही आम-जन के लिए हुआ है। बिना किसी विशेष साधना अथवा नियंत्रण के प्रेक्षाध्यान के प्रयोग कोई भी जन निर्बाध कर सकता है। खास बात यह भी है कि यह विधि सांप्रदायिकता की संकीर्णता से पूर्णतः मुक्त है। प्रेक्षाध्यान की विलक्षणता इसी बात में प्रतीत हो जाती है कि इस विधि को किसी प्रकार के आग्रह-दुराग्रहों से सर्वथा मुक्त रखा गया है। धर्म-संप्रदाय से तो मुक्त है ही, इस विधि के अन्वेषक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के प्रति किसी तरह की औपचारिक कृतज्ञता के लिए भी अंशतः आग्रह नहीं है।

आग्रह है तो बस इतना-सा—'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।' यदि किसी को इस कथन में भी धर्म-संप्रदाय की संकीर्ण बू आ रही हो तो 'वंदे सच्चं' और 'कृतज्ञोस्मि' जैसे सूक्त का सस्वर निनाद करने का अंत में आग्रह रहता है। सत्य को नमस्कार करना, सबके प्रति कृतज्ञता का बोध रखना—उन शाश्वत जीवन-मूल्यों के स्वीकार का ही आग्रह है जिनके तिरोहित होते चले जाने का कुफल आज इस समाज को भोगना पड़ रहा है।

धर्म के ऐसे प्रायोगिक रूप को स्वीकार करके धर्म-भीरु समाज सांप्रदायिकता की बाड़ाबंदी से मुक्त हो सकता है, वहीं घोर नास्तिक कहा जाने वाला व्यक्ति भी ऐसे प्रयोग-रूपों को अंगीकार करने में परहेज नहीं कर सकता।

क्या इसे धार्मिक नवाचार कहा जा सकता है? धर्म के क्षेत्र में यह बड़ा नवाचार माना जा सकता है। प्रेक्षाध्यान के रूप में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह विलक्षण और विशिष्ट अवदान है, क्योंकि यह आम-जन के लिए है। क्योंकि इसमें वर्जना नहीं है; आग्रह नहीं है कि आप 'किस के' प्रति आस्थाशील होकर इस विधि को अपनाएं, अलबत्ता आस्थाशील होना बुराई नहीं है। आस्था अंतस से उठती है और गहरी अनुभूति से ही उपजती है।

प्रेक्षाध्यान की इस प्रयोग विधि से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक 'मर्यादाशील समाज' के सपने को साकार देखना चाहते हैं। उनका यह मानना कितना समीचीन है कि मर्यादाशील व्यक्ति का धार्मिक होना जरूरी नहीं। धर्म के प्रति घोर आस्थाशील व्यक्ति ही संभवतः ऐसा विचारोत्तेजक और बेबाक कथन करने का अधिकारी है, पर ऐसा कथन वही कर सकता है जो धर्म में नवाचार देखना चाहता है, धर्म के प्रायोगिक रूपों में जिसका विश्वास है। धर्म में नवाचार लाने का इससे बड़ा उदाहरण क्या होगा? कहा गया है—'मर्यादाओं को तोड़ देना एक बात है और मर्यादाओं को अर्थहीन बना देना दूसरी बात है। अप्रमत्त या अनासक्त व्यक्ति मर्यादा को तोड़ता नहीं, उसे अर्थहीन बनाता है।' यह कथन है आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का।

धर्म में यह नवाचार, धर्म का ऐसा प्रायोगिक रूप 'जड़' हो रहे धर्म को जीवंत स्वरूप दे सकता है। शाश्वत मूल्यों को जीवन-शैली का अंग बना सकता है।

— शुभू पटवा

विमर्श

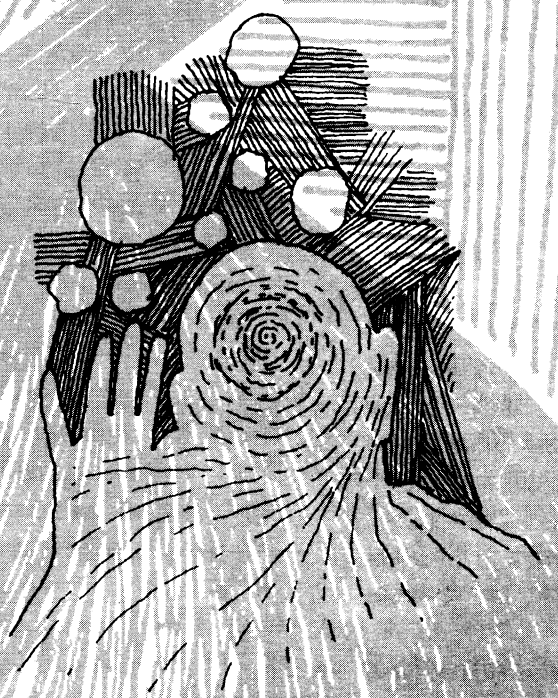

यह सच है कि मानव-शरीर के कुछ या सब भागों के दोषों के कारण या उनके स्थगित हो जाने के कारण चित्त के कार्य में गंभीर बाधा पहुंच सकती है अथवा कभी-कभी पहुंचती है। परंतु उससे यह सिद्ध नहीं होता कि पदार्थ चित्त से श्रेष्ठ है। किसी बढ़ई को खराब औजार देने से या सारे औजार उससे छीन लेने से यह प्रमाणित नहीं होता कि औजारों का अस्तित्व बढ़ई के अस्तित्व से पहले था या औजारों ने बढ़ई को बनाया या औजार बढ़ई से श्रेष्ठ हैं अथवा उसका नियंत्रण करते हैं।

जीवधारियों के क्रमिक ऐतिहासिक विकास में चित्त के प्रकट विकास से भी यह सिद्ध नहीं होता कि चित्त पदार्थ का परिणाम है; जैसे किसी बढ़ई को धीरे-धीरे अधिकाधिक अच्छे औजार देने से यह सिद्ध नहीं होता कि बढ़ई औजारों की गौण उपज है अथवा उनका परिणाम है।

—रिचर्ड बी. ब्रेग

अंतरराष्ट्रीय
प्रेक्षाध्यान शिविर
पर विशेष

हमारा दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। एकांगी दृष्टिकोण से किसी बात को पकड़ा नहीं जा सकता। हमारा दृष्टिकोण यह रहा है कि जैसे स्वास्थ्य के लिए संतुलित भोजन होना चाहिए, वैसे ही साधना के प्रयोगों में भी संतुलन होना चाहिए। शरीर, प्राण और मन को साधने वाले प्रयोग तथा चेतना को विकसित करने वाले प्रयोग—दोनों का संतुलन होना चाहिए। प्रेक्षाध्यान हमारे इसी दृष्टिकोण की निष्पत्ति है।

प्रेक्षाध्यान और प्रचलित ध्यान विधियां

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

आज ध्यान की बहुत-सारी प्रणालियां प्रचलित हैं। प्रेक्षाध्यान की प्रणाली उन सबसे कुछ भिन्न है।

प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है—आत्मा का साक्षात्कार, आत्म-दर्शन। मन की शांति, शारीरिक स्वास्थ्य और तनाव विसर्जन—ये प्रेक्षाध्यान के परिणाम हैं। उसका मूल उद्देश्य है—चित्त की निर्मलता और आत्मा की अनुभूति।

प्रेक्षाध्यान का एक उद्देश्य है—निर्मोह होना। उसका एक उद्देश्य अज्ञान से मुक्त होना भी है। ज्ञानावरण से मुक्त होना है, सर्वज्ञ होना है। सर्वज्ञता भी जैन दर्शन में मान्य है। प्रेक्षाध्यान का मूल आधार है—आत्मा का ज्ञान। जैन दर्शन आत्मवादी है, आत्मा को स्वीकार करता है। जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होता, प्रेक्षा का प्रारंभ ही नहीं होता।

प्रेक्षा कब

प्रेक्षा कब होती है? जब नित्यानित्य का ज्ञान होता है तब प्रेक्षा होती है। उत्पाद और व्यय को ध्रौव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन की भाषा में जो सत् है वह त्रयात्मक है। नित्य और अनित्य— दोनों का ज्ञान, यह प्रेक्षा का पहला आधार है।

जैन दर्शन में केवल दुखवाद का स्वीकार नहीं है। जितना स्थान दुख का है उतना ही सुख का स्थान है। भगवान महावीर ने जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग—इन चारों दुखों को स्वीकार किया है, साथ-साथ सुख को भी स्वीकार किया है। जैन दर्शन एकांत दुखवादी नहीं है। पौद्गलिक सुख भी सुख है। साधना-काल में भी सुख की अनुभूति होती है इसलिए सुखवाद भी मान्य है।

ध्यान की अनेक विधियों में एक है—प्रेक्षाध्यान। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस विधि के अन्वेषक हैं। ध्यान की अन्य प्रचलित विधियों से परिचित कराते हुए 'प्रेक्षाध्यान' की विशिष्टताओं पर खास दृष्टिपात इस आलेख में—

प्रेक्षाध्यान—विपश्यना : मौलिक अंतर

ध्यान की एक प्रणाली है विपश्यना। यह बौद्ध-ध्यान की प्रणाली है। प्रेक्षा जैन साधना की प्रणाली है। प्रेक्षा के प्रयोग भी चलते हैं, विपश्यना के प्रयोग भी चलते हैं। प्रेक्षा और विपश्यना—इन दोनों शब्दों का अर्थ एक है—देखना। लेकिन इनकी पद्धति और दर्शन एक नहीं है। विपश्यना-ध्यान पद्धति का प्रयोग करने वाली एक बहिन ने कहा— 'महाराज! मैं विपश्यना के प्रयोगों में जाती हूं। विपश्यना में और सब-कुछ ठीक है, उससे मन की शांति भी मिलती है, पर उसमें आत्मा की बात नहीं है, आत्म-साक्षात्कार की बात नहीं है।' विपश्यना में आत्मा की बात हो भी नहीं सकती, क्योंकि यह बौद्धों की प्रणाली है, उसमें आत्मा की बात कैसे होगी? बुद्ध ने आत्मा को अव्याकृत कहा है। यह मूलभूत अंतर है—प्रेक्षा और विपश्यना में। यह एक ऐसा बिंदु है, जिससे प्रेक्षा और विपश्यना के आधारभूत अंतर को समझा जा सकता है।

विपश्यना के कई प्रकार हैं—आनापानसती, काय विपश्यना,

धर्मानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि। किंतु वर्तमान में विपश्यना का जो क्रम चल रहा है, उसमें मुख्य रूप से दो प्रयोग करवाए जाते हैं—आनापानसती— श्वास-प्रश्वास को देखना और काय विपश्यना—शरीर को देखना। जहां तक हमने जाना है, इन दो प्रयोगों के अलावा विपश्यना पद्धति में तीसरा प्रयोग नहीं चल रहा है।

अनेक लोग कहते हैं—विपश्यना में आनापानसती और काय-विपश्यना का प्रयोग चलता है और प्रेक्षाध्यान में भी श्वास-प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग हैं। इन दोनों में अंतर क्या है?

श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षा में भी है। अंतर श्वास का नहीं है, अंतर है दर्शन की पृष्ठभूमि का, दार्शनिक आधार का। जब तक हम उसके आधार को न समझ लें तब तक केवल प्रयोग के आधार पर समानता और असमानता की बात समझ में नहीं आ पाएगी। प्रेक्षाध्यान का आधार है जैन दर्शन और विपश्यना का आधार है बौद्ध दर्शन। बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दुख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए तीन शर्तें हैं—अनित्य का ज्ञान, दुख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनों का ज्ञान होने पर विपश्यना प्रकट होती है। बौद्ध दर्शन का सिद्धांत है—क्षणिकवाद। प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है। यह विपश्यना का एक मूल आधार है। विपश्यना का दूसरा आधार है दुख का ज्ञान। जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण—ये दुख हैं। यह दुख का ज्ञान विपश्यना का आधार तत्त्व है। विपश्यना का तीसरा मूल आधार है—अनात्म का ज्ञान। जब इस त्रिपदी का ज्ञान स्पष्ट होता है तब विपश्यना प्रकट होती है।

जैन दर्शन में कोरा अनित्यवाद मान्य नहीं है, कोरा दुखवाद मान्य नहीं है और अनात्मवाद सर्वथा ही मान्य नहीं है। इन तीन आधारों से प्रेक्षा और विपश्यना के मूल दार्शनिक आधार की भिन्नता स्पष्ट है।

प्रेक्षाध्यान : प्राणतत्त्व

प्रेक्षाध्यान की पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का पहला बिंदु है कायोत्सर्ग—शरीर को त्यागना और उसका अंतिम बिंदु है कायोत्सर्ग—काया का निरोध, काया का उत्सर्ग। इसका तात्पर्य है भेद-विज्ञान। 'आत्मा अलग है और शरीर अलग है', 'आत्मा अलग है, पुद्गल अलग है', 'मैं आत्मा हूं, मैं शरीर नहीं हूं'—इसकी अनुभूति भेद-विज्ञान है। प्रेक्षाध्यान करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य वहां पहुंचना है जहां पहुंचने पर आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाए।

जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष आत्मा के आधार पर चलता है। जैन दर्शन का एक कदम भी आत्मा को छोड़कर आगे नहीं बढ़ता। सारा आचारशास्त्र आत्मा पर आधारित है। एक साधक ने श्वास-प्रेक्षा की, श्वास के प्रकंपनों का पता चला। शरीर-प्रेक्षा की, शरीर के प्रकंपनों का पता चला किंतु उसे कंपनों में ही नहीं अटकना है, अकंप की ओर जाना है। इन प्रकंपनों के बीच एक अप्रकंप है, जो कभी कंपित नहीं होता, उसका साक्षात्कार करना है। यह बात बौद्ध दर्शन-सम्मत नहीं है, क्योंकि उसमें आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नहीं है।

मौलिक अंतर

बुद्ध ने कहा—दुख को मिटाओ, दुख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगड़े में मत पड़ो। बुद्ध ने दुख को मिटाने का सीधा मार्ग बताया। महावीर का मार्ग कुछ टेढ़ा है। महावीर ने कहा—वर्तमान में जो सामने है, केवल उसी पर मत अटको, मूल तक जाओ। बुद्ध का दर्शन है—अग्र पर ध्यान केंद्रित करो। महावीर का दर्शन है—केवल अग्र को मत पकड़ो, मूल तक जाओ, आत्मा तक जाओ। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में यह मूलभूत अंतर है।

विपश्यना पद्धति मन को शांत करने के लिए है, राग-द्वेष को कम करने के लिए है, केवल जानने और देखने के लिए है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में मन को शांत करने की बात मुख्य नहीं है। केवल ज्ञाता-द्रष्टा होना साधन है, साध्य नहीं है। साध्य है आत्मा का साक्षात्कार, आत्मा को जान लेना। प्रेक्षा और विपश्यना में यह एक मौलिक अंतर है—प्रेक्षाध्यान के साथ जुड़ा है—आत्म-साक्षात्कार का दर्शन और विपश्यना के साथ जुड़ा है—दुख को मिटाने का दर्शन।

श्वास-प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना में कुछ प्रयोग समान हैं। श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षा में भी है, किंतु उसकी प्रयोग-पद्धति में अंतर है। विपश्यना में बल दिया जाता है सहज श्वास को देखने पर और प्रेक्षाध्यान में बल दिया जाता है दीर्घ श्वास-प्रेक्षा पर। विपश्यना में अप्रयत्न मान्य है। प्रेक्षाध्यान में प्रयत्न को भी मान्य किया गया है। यह निर्देश दिया जाता है—हम प्रयत्नपूर्वक लंबा श्वास लें और श्वास की प्रेक्षा करें। इस दृष्टि से आनापानसती और श्वास-प्रेक्षा की स्थूल अर्थ में ही तुलना हो सकती है। एक

ओर सहज श्वास का प्रयोग है तो दूसरी ओर प्रयत्नकृत दीर्घ श्वास का प्रयोग।

विपश्यना में कहा जाता है—आयास मत करो, जो अनायास, सहज चल रहा है, उसकी विपश्यना करो, उसे देखो। प्रेक्षा में आयास वर्जित नहीं है। प्रयत्न से श्वास को लंबाना हमारी दृष्टि में ज्यादा उपयोगी है। दीर्घ श्वास से अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक लाभ होते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से लंबा श्वास लेना (Long Breathing) बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

श्वास-संयम : समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान में कुंभक का प्रयोग करवाया जाता है। विपश्यना में कुंभक का प्रयोग मान्य नहीं है। श्वास-संयम का यह दूसरा अंतर है। प्रेक्षाध्यान में लयबद्ध श्वास को भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। श्वास को लयबद्ध करने की एक प्रक्रिया है—पांच सैकेंड में श्वास लेना, पांच सैकेंड भीतर रोकना, पांच सैकेंड में बाहर निकालना और पांच सैकेंड बाहर रोकना—इस प्रकार बार-बार श्वास की आवृत्ति करना लयबद्ध श्वास है।

प्रेक्षाध्यान में समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा का जो प्रयोग कराया जाता है, वह विपश्यना में नहीं है। समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा की पद्धति है—दाएं नथुने से श्वास लें, बाएं से निकालें, पुनः बाएं नथुने से श्वास लें, दाएं नथुने से निकालें। चित्त और श्वास—दोनों साथ-साथ चलें, निरंतर श्वास का अनुभव करें।

चंद्रभेदी श्वास का प्रयोग, सूर्यभेदी श्वास का प्रयोग, उज्जाई श्वास का प्रयोग—ये सारे प्रयोग प्रेक्षाध्यान को विपश्यना से पृथक् कर देते हैं। प्रेक्षाध्यान में केवल श्वास-प्रेक्षा के पचास प्रकार के प्रयोग विकसित हुए हैं, जो सम्मत हैं, ज्ञात और मान्य हैं।

आसन

भगवान महावीर ने आसनों को बहुत महत्त्व दिया। प्रेक्षाध्यान में भी आसन का प्रयोग करवाया जाता है। भगवान महावीर ने अनेक आसनों के प्रयोग किए हैं। महावीर को केवलज्ञान भी एक विशिष्ट आसन में उपलब्ध हुआ। स्थानांग सूत्र में आसनों के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। तपस्या का एक प्रकार है, काय-क्लेश—आसन का प्रयोग। जैनों में कहां-कहां आसन के संबंध में क्या-कुछ लिखा गया है, इस विषय पर गहन अनुशीलन किया गया है तभी हमने यह स्वीकार किया है। आसन का प्रयोग किसी से लिया हुआ नहीं है, यह परंपरा से सहज प्राप्त है। आसन हठयोग से नहीं लिए गए हैं। बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन की साधना प्रक्रिया में यह भी एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। विपश्यना में आसन का निषेध है, क्योंकि बौद्ध साधना पद्धति में आसन सम्मत नहीं है। बौद्धों में आसन वर्जित रहे हैं और जैन दर्शन में मान्य।

वस्तुतः आसन कोई शरीर परिकर्म नहीं है। आसन साधना की एक पद्धति है। वृत्तियों पर नियंत्रण कैसे किया जाए? कर्मों की निर्जरा कैसे की जाए? इसका एक उपाय है आसन। इसके साथ-साथ आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है। जो व्यक्ति ध्यान करता है, किंतु आसन नहीं करता—वह कुछ हानियां भी उठाता है। ध्यान से पाचन तंत्र गड़बड़ा जाता है, अग्नि मंद हो जाती है, इसलिए ध्यान के साथ आसन का होना अत्यंत जरूरी है।

प्राणायाम

प्राणायाम प्राण-नियंत्रण के लिए बहुत आवश्यक है। जब तक प्राण पर नियंत्रण नहीं होता तब तक चंचलता पर नियंत्रण नहीं हो सकता। हठयोग में प्राणायाम को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में भी उसका पर्याप्त महत्त्व है। प्रेक्षाध्यान शिविरों में प्राणायाम का प्रयोग भी करवाया जाता है। विपश्यना में प्राणायाम का कोई स्थान नहीं है, पर प्रेक्षाध्यान में प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है।

मौन

प्रेक्षाध्यान में मौन पर विशेष बल नहीं दिया जाता। हम उसे अनिवार्य नहीं मानते। हम यह चाहते हैं—प्रेक्षाध्यान एक ऐसी सामान्य पद्धति रहे, जिसे जीवन-भर जीया जा सके। मौन का एक-दो घंटे का प्रयोग सम्यक् रूप से हो सकता है, पर निरंतर दस दिन तक मौन रहना एक सामान्य आदमी के लिए समस्या है। इसीलिए प्रेक्षा शिविरों में यह निर्देश दिया जाता है कि अनावश्यक बातचीत न की जाए, आवश्यकता होने पर ही बोलें। मौन करें तो उसका सही अर्थ में पालन करें। ऐसा न हो कि मौन भी करें और संकेतों की भाषा भी चलती रहे। विपश्यना में मौन का प्रयोग काफी कठोरता से करवाया जाता है। उसमें दस दिन पूर्ण मौन का प्रयोग होता है।

चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना में मूलभूत रेखा खींचने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा। यह प्रयोग भी विपश्यना में नहीं है और शायद इसलिए नहीं है कि उसमें किसी एक स्थान पर टिकना पसंद नहीं किया जाता। उसमें पूरे शरीर को देखते चले जाते हैं, कहीं रुकते नहीं हैं। यदि

हम शरीर को देखते चले जाएंगे तो धारणा होगी, पर ध्यान नहीं होगा। हम इसे इस भाषा में समझें—बछड़ा आंगन में उत्पात मचा रहा है। उसे पकड़कर एक खूंटे से बांध दिया तो वह ज्यादा कूद-फांद नहीं कर पाएगा। इसका नाम है धारणा। वह बछड़ा आसपास में ही चक्कर लगाएगा। जब वह थक जाएगा, तब वहीं बैठ जाएगा—यह है ध्यान। ध्यान का मतबल है—चित्त को एक स्थान पर टिका देना। मन को एक स्थान पर टिकाया और मन लंबे समय तक उसी विषय पर टिका रहा, मन शांत हो गया, यही है ध्यान।

हमारे दृष्टिकोण में श्वास-प्रेक्षा और शरीर-प्रेक्षा—दोनों धारणा के प्रकार हैं। ध्यान शुरू होता है चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा से। किसी एक चैतन्यकेंद्र पर ध्यान शुरू किया, यह धारणा है। आधा घंटा तक उसी केंद्र पर चित्त केंद्रित बना रहा तो वह ध्यान हो गया। जब हम ध्यान करते हैं तब प्रारंभ में धारणा होती है। एक बिंदु पर धारणा होते-होते चित्त उस पर एकाग्र बन जाता है, तब ध्यान हो जाता है। यद्यपि ध्यान का ही एक अंग है धारणा। जब धारणा पुष्ट होती है तब वह ध्यान में परिणत हो जाती है। एक सूत्र है—धारणा को बारह से गुणा करो, वह ध्यान बन जाएगा। ध्यान को बारह से गुणा करो, वह समाधि बन जाएगी।

पहले हम धारणा करें, एक स्थान पर चित्त को केंद्रित करें। जैसे-जैसे वह सघन होगी, ध्यान घटित होता चला जाएगा। दृष्टांत की भाषा है—दूध है, उसमें जामन दिया, उसमें समय लगता है। जामन दिया गया, दूध गाढ़ा बन गया, दही बन गया, यह है ध्यान। दूध है चंचलता, जामन है धारणा और दही है ध्यान। चैतन्यकेंद्र का ध्यान धारणा से प्रारंभ होता है। हम बीस मिनट, आधा घंटा या उससे अधिक उस पर टिके रहें तो वह ध्यान बन जाएगा।

चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा : भेद का आदि-बिंदु

प्रेक्षा और विपश्यना में भेद का आदि-बिंदु है चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा—यह मान लेना चाहिए। यह भेद का प्रथम कारण है। हम कारण पर विमर्श करें। बौद्ध दर्शन में आत्मा कोई तत्त्व नहीं है। उसमें आत्मा को देखने की बात नहीं है। जो लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें विपश्यना से वह प्राप्य नहीं हो सकता। विपश्यना से आत्म-दर्शन की आशा पूरी नहीं होगी। जो आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उनके लिए चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा करना जरूरी है। चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के जिन-जिन स्थानों पर चेतना सघन रूप में केंद्रित है, उन-उन स्थानों पर ध्यान करना। यदि हम चैतन्यकेंद्रों पर लंबे समय तक ध्यान करेंगे तो चेतना की अनुभूति जल्दी होगी।

चैतन्यकेंद्र : मर्मस्थान

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में बहुत-से ऐसे मर्मस्थान हैं, जहां चोट लगते ही आदमी मर सकता है। कंठ एक मर्मस्थान है। यदि उस पर गंभीर चोट लगे तो आदमी तत्काल मर जाए। सुश्रुत संहिता में ऐसे सौ से अधिक मर्मस्थान बतलाए गए हैं। इन मर्मस्थानों को चैतन्यकेंद्र कहा जा सकता है। एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर की पद्धति में सात सौ बिंदु (Points) खोज लिए गए हैं। चेतना के ये सारे केंद्र हमारे शरीर में हैं। इन केंद्रों पर ध्यान करेंगे तो चेतना को पकड़ने में बहुत मदद मिलेगी। चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा का यह प्रयोग उसी दर्शन या व्यक्ति को मान्य हो सकता है, जो स्पष्टतः आत्म-दर्शन की भावना रखता है।

प्रेक्षाध्यान : मौलिक अवदान

प्रेक्षाध्यान पद्धति में अनेक स्वतंत्र प्रयोग भी विकसित किए गए हैं। लेश्याध्यान, अनिमेष-प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के विशेष प्रयोग आदि-आदि प्रेक्षाध्यान के अपने मौलिक अवदान हैं। एक प्रेक्षाध्यान शिविर में अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। केवल लेश्याध्यान के पचासों प्रयोग विकसित किए जा चुके हैं। विभिन्न चैतन्यकेंद्रों पर विभिन्न रंगों के साथ प्रेक्षा के जो प्रयोग विकसित हुए हैं, वे किसी भी पद्धति में प्रचलित नहीं हैं, प्राप्त नहीं हैं।

स्वाध्याय और जप

यह एक सचाई है कि सब व्यक्तियों की रुचि एक समान नहीं होती, क्षमता एक समान नहीं होती। बहुत-सारे लोग ऐसे होते हैं, जो ध्यान को पकड़ ही नहीं पाते। उन्हें प्रारंभ में जप का प्रयोग करवाया जाता है। जो जप को पकड़ लेता है, वह कालांतर में ध्यान में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। विपश्यना में मंत्र का जप और स्वाध्याय करना निषिद्ध है। प्रेक्षाध्यान में स्वाध्याय का महत्त्व भी स्वीकृत है। आसन, प्राणायाम, जप आदि से साधना का क्रम शुरू होना चाहिए। यह साधना का आदि-चरण है। साधना का अग्रिम चरण है—चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा और लेश्याध्यान।

अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का सहवर्ती प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के सारे प्रयोग चिंतन के प्रयोग हैं। ध्यान में चिंतन का समावेश होना भी जरूरी है। विचय ध्यान की पूरी प्रक्रिया चिंतनात्मक ध्यान की प्रक्रिया है। जो बदलाव चाहते हैं, उनके लिए अनुप्रेक्षा और संकल्प का प्रयोग करना

जरूरी है। पश्चिमी वैज्ञानिक 'सजेशन' और 'ऑटो-सजेशन' के प्रयोग करवाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में ये प्रयोग काफी सफल हुए हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग 'सजेस्टोलॉजी' के प्रयोग हैं। यह सुझाव के द्वारा आदतों में परिवर्तन लाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्रेक्षाध्यान का यह विशिष्ट प्रयोग है।

अपना-अपना दृष्टिकोण

प्रेक्षाध्यान पद्धति का समग्र आकलन करने पर जो निष्कर्ष प्रस्तुत होता है, वह यह है कि प्रेक्षाध्यान एक सर्वांगीण और समृद्ध पद्धति है। यह किसी भी पद्धति का अनुकरण नहीं है। कभी-कभी प्रेक्षाध्यान पद्धति की समालोचना करते हुए कहा जाता है कि कुछ इधर से ले लिया, कुछ उधर से ले लिया और एक विकृत पद्धति का निर्माण कर दिया गया। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है। हमारा दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। एकांगी दृष्टिकोण से किसी बात को पकड़ा नहीं जा सकता। हमारा दृष्टिकोण यह रहा है कि जैसे स्वास्थ्य के लिए संतुलित भोजन होना चाहिए, वैसे ही साधना के प्रयोगों में भी संतुलन होना चाहिए। शरीर, प्राण और मन को साधने वाले प्रयोग तथा चेतना को विकसित करने वाले प्रयोग—दोनों का संतुलन होना चाहिए। प्रेक्षाध्यान हमारे इसी दृष्टिकोण की निष्पत्ति है।

विकासमान पद्धति

सच तो यह है कि श्वास-प्रेक्षा और शरीर-प्रेक्षा के प्रयोग बहुत लंबे समय से चल रहे हैं। हम विकासशील पद्धति में विश्वास करते हैं। प्रारंभ में हम आसन-प्राणायाम, कायोत्सर्ग, श्वास-प्रेक्षा और शरीर-प्रेक्षा के प्रयोग ही करते थे, किंतु किसी पद्धति का विधिवत् रूप से निर्धारण नहीं हो पाया था। कालांतर में इस पद्धति का नामकरण 'प्रेक्षाध्यान' किया गया। उसके बाद इसमें चैतन्यकेंद्र-प्रेक्षा का प्रयोग जुड़ा। कालांतर में लेश्याध्यान के प्रयोग भी आविष्कृत हुए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग भी बाद में निर्धारित किए गए। बौद्धों में अनुप्रेक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। बौद्ध दर्शन में दस अनुस्मृतियां हैं पर उसमें बारह अनुप्रेक्षाएं व्यवस्थित नहीं हैं। इस प्रकार प्रेक्षाध्यान के सारे प्रयोग स्वतंत्र बन जाते हैं। उनका विकास भी स्वतंत्र ही हुआ है। विकास के अनेक चरणों को स्पर्श करते हुए प्रेक्षाध्यान सर्वांगीण पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है और आज भी वह विकासमान बनी हुई है।

प्रेक्षाध्यान और निर्विचार ध्यान

इस शताब्दी में ध्यान पर विचार करने वाले अनेक मनीषी हुए हैं। अनेक प्रकार के ध्यान भी विकसित हुए हैं। उन सबमें यदि गंभीर और एक 'स्थितप्रज्ञ' जैसा किसी को कहा जा सके तो श्री कृष्णमूर्ति का नाम लिया जा सकता है। कृष्णमूर्ति ने इस विषय को जितनी गहराई से पकड़ा है, उतनी गहराई तक बहुत कम लोग पहुंचे हैं। कृष्णमूर्ति ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने गहराई का स्पर्श किया है, भीतर गहरे में पैठ की है।

कृष्णमूर्ति का मंतव्य

श्री कृष्णमूर्ति का मानना था कि मन सब जगह व्याप्त है। जहां-जहां मन की व्याप्ति है वहां न ध्यान हो सकता है, न धर्म हो सकता है। मन आत्मा के बारे में सोच रहा है, ईश्वर के बारे में सोच रहा है या शराब के बारे में सोच रहा है। श्री कृष्णमूर्ति की दृष्टि में इसमें कोई फर्क नहीं है। जहां मन का खेल है, वहां कुछ भी हो सकता है। जहां मन से परे चले जाएं, मन का खेल खेलना बंद कर दें, वहां सत्य उपलब्ध होगा, सत्य की अनुभूति होगी और वही वास्तविक होगी।

अतीत, वर्तमान और भविष्य—सारा मन का खेल है। हम कालातीत हुए बिना मन के खेलों से परे नहीं जा सकते। जब तक काल से बंधे रहेंगे, तब तक मन के खेल खेलते रहेंगे। अतीत की स्मृति मन का खेल है। वर्तमान का चिंतन और भविष्य की कल्पना—सब-कुछ मन का खेल ही खेला जा रहा है। मन से परे होने, मनोतीत अवस्था में जाने का अर्थ है—कालातीत अवस्था में जाना। जहां मन समाप्त होता है—वहां कोई काल नहीं है। मन नहीं है तो स्मृति नहीं होगी। अतीत से संबंध छूट जाएगा। मन नहीं है तो चिंतन भी नहीं होगा। हम वर्तमान की पकड़ से मुक्त हो जाएंगे। मन नहीं है तो भविष्य की कल्पना भी नहीं होगी। हम भविष्य की कारा में बंदी नहीं रहेंगे।

ध्यान की पराकाष्ठा

यह एक दृष्टिकोण है। इसमें काफी गहरे जाने का यत्न किया गया है। यह आत्मा की स्थिति है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जब व्यक्ति आत्मानुभूति के क्षण में चला जाता है, आत्मा तक चला जाता है, तब न चिंतन रहता है, न स्मृति और न कल्पना होती है। जो व्यक्ति वीतरागी या ज्ञानी बन गया—वह कभी स्मृति, कल्पना और चिंतन नहीं करता। यह स्थिति साक्षात्कार की है। जहां दर्शन या साक्षात्कार हो जाए—सत्य के साथ सीधा संपर्क हो जाए—वहां तीनों काल समाप्त हो जाते हैं। केवली के लिए अतीत और भविष्य क्या होगा? कैवल्य कालातीत स्थिति की उपलब्धि है।

विचार की भूमिका

निस्संदेह यह ध्यान की पराकाष्ठा की स्थिति है। हम इस पर प्रेक्षाध्यान की दृष्टि से विचार करें। हम अनेकांत की दृष्टि से विचार करते हैं, इसलिए किसी पक्ष को गलत नहीं कह सकते, किंतु उसे एक पक्ष ही मान सकते हैं। ध्यान का एक पहलू यह हो सकता है, किंतु उसका दूसरा पहलू नहीं है—ऐसा नहीं माना जा सकता। साक्षात्कार की भूमिका में व्यक्ति सीधा चला जाए—यह सबके लिए संभव नहीं है। शक्ति और क्षयोपशम का तारतम्य इतना है कि विचार की भूमिका भी एक नहीं बन पाती। श्री कृष्णमूर्ति ने सब-कुछ विचार की भूमिका से देखा। हम भावना की भूमिका को भी छोड़ नहीं सकते। विचार को पैदा कौन करता है? विचार अपने-आप पैदा नहीं होता। भाव और मन— दोनों जुड़े हुए हैं। भाव प्रभावित होगा तो मन प्रभावित हो जाएगा।

भाव और मन

इसमें कोई संदेह नहीं है कि जो मन एक क्षण पहले अच्छा सोचता है, वह दूसरे क्षण में बुरा भी सोचने लग जाता है। इस स्थिति में मन का अस्तित्व कहां रहा? हवा बहती है। यदि हम कहें—हवा ठंडी है तो सापेक्ष सत्य होगा। थोड़ी-सी गर्मी आएगी, हवा गर्म हो जाएगी। यदि हम कहें—हवा गर्म है तो यह भी सापेक्ष-सत्य होगा। हवा फिर ठंडी हो जाती है। हर मौसम के साथ हवा का रूप बदलता रहता है। वह कभी गर्म हो जाती है, कभी ठंडी हो जाती है। गर्मी होती है तो व्यक्ति ऊनी वस्त्र भीतर रख देता है। सर्दी अधिक होती है तो ऊनी वस्त्र बाहर निकाल लेता है। हवा अपने-आप में न ठंडी है और न गर्म। मन की भी यही बात है। मन न अपने-आप में अच्छा सोचता है, न बुरा सोचता है। जैसा भाव जागृत होता है, मन की क्रिया वैसी ही बन जाती है। अच्छे भाव का प्रवाह आता है तो मन अच्छा सोचने लग जाता है। बुरे भाव का प्रवाह आता है तो मन बुरा सोचने लग जाता है। हम केवल मन को न पकड़ें, विचार को न पकड़ें। मन और विचार का स्तर सतही है। अंतर का जो स्तर है, वह कुछ और है।

अ-मन की भूमिका

श्री कृष्णमूर्ति ने भी मन को दो भागों में विभक्त किया है। एक है बाहरी मन, दूसरा है छिपा हुआ मन। जब तक हम बाहरी मन को पकड़ेंगे तब तक कुछ नहीं होगा। जब छिपा हुआ मन पकड़ में आ जाएगा तब हम भावना के स्तर पर पहुंच जाएंगे। इस स्थिति में पहुंचने पर ही प्रेक्षा की बात समझ में आ सकती है।

प्रेक्षाध्यान में निर्विचार ध्यान सर्वथा सम्मत है। हमारा लक्ष्य है—निर्विचार को उपलब्ध होना, मन से अ-मन की भूमिका में चले जाना। अ-मन शब्द प्रेक्षाध्यान में बहुत व्यवहृत हुआ है। यह आगम-सम्मत शब्द है। जैन आगम स्थानांग सूत्र में दो स्थितियां बतलाई गई हैं—एक है मन की स्थिति और दूसरी है अ-मन की स्थिति। मन कोई स्थाई तत्त्व नहीं है। बुद्धि हमारा स्थाई तत्त्व है। जब-जब हम मन की भूमिका में चलते हैं तब-तब दोनों प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। अच्छा विचार भी आ सकता है, बुरा विचार भी आ सकता है। जब हम अ-मन की भूमिका में चले जाते हैं तब आत्मा की सन्निधि में चले जाते हैं। वहां पूर्ण अप्रमाद और एकाग्रता की स्थिति बनती है।

निर्विकल्प चेतना और प्रेक्षा

विचार से निर्विचार की स्थिति तक पहुंचने का एक क्रम होता है। हम एक साथ विचार से निर्विचार में कैसे चले जाएंगे? किसी व्यक्ति में यह शक्ति हो सकती है कि वह ध्यान में बैठे और विचार समाप्त हो जाए। सबके लिए यह संभव नहीं है। समाधान यही है कि जब भी हमारे मन में बुरा विचार आए, हम अच्छे विकल्प की ओर अपना ध्यान मोड़ दें, कुछ ही देर में बुरा विकल्प समाप्त हो जाएगा। हम बुरे विकल्प को अच्छे विकल्प में बदल दें, लेकिन यह ध्यान निरंतर बना रहे कि विकल्प से निर्विकल्प स्थिति तक पहुंचना है। जब तक देखने का अभ्यास नहीं होता, विचार-मुक्त स्थिति का निर्माण संभव नहीं बनता।

देखना और सोचना—दो तत्त्व हैं। हम मनस्वी हैं। इसलिए सोचना जानते हैं, पर देखना नहीं जानते। प्रेक्षाध्यान का मतलब है—देखना। जब देखेंगे तब साक्षात्कार होगा। जब सोचेंगे तब बौद्धिक तर्क पैदा होंगे। जहां वस्तु के साथ सीधा संपर्क होता है, वहां देखना होता है। जितने झगड़े हैं, विचारों के झगड़े हैं। साक्षात्कार में कोई झगड़ा नहीं है। विवादों की मूल जड़ है सोचना-विचारना।

प्रेक्षाध्यान : निर्विचार ध्यान

इस सारे परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर जो निष्कर्ष आता है, वह यही है कि मन के खेलों से परे चले जाना ही ध्यान है। जब हम आत्मा के सन्निकट चले जाते हैं, मन की भूमिका समाप्त हो जाती है। जब तक हम मन की भूमिका पर जीएंगे, तब तक लाभ में खुशी और अलाभ में शोक उत्पन्न होता रहेगा। यह स्थिति तब समाप्त होती है जब हम मन से अ-मन की भूमिका में चले जाते हैं। यह सचाई है—जितने प्रभाव होते हैं, सारे मन पर होते हैं। मुद्गशैल

पाषाण पर कोई प्रभाव नहीं होता। जो अप्रभावित अवस्था है, वह अ-मन की अवस्था है। इस अवस्था को उपलब्ध होने का श्री कृष्णमूर्ति ने जो दर्शन प्रस्तुत किया है, वह प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। समान लक्ष्य की ओर ले जाने वाली इन दोनों पद्धतियों का प्रायोगिक क्रम एक नहीं है। इतना अंतर होते हुए भी लक्ष्य की अवधारणा में जो साम्य है, वह प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान के क्षेत्र में विशिष्ट एवं अलौकिक उपलब्धि के लिए उत्प्रेरित करता है।

प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान

हमारी दुनिया में जितने भी उपयोगी साधन हैं, उनकी संख्या में वृद्धि हुई है। यह नियम है कि जो भी अच्छी चीज हुई, उसकी संख्या में वृद्धि होती चली गई। यह आज से नहीं, आदिकाल से चला आ रहा नियम है। अनाज भी कई प्रकार के बढ़े हैं, फल भी कई प्रकार के बढ़े हैं, कपड़े भी कई प्रकार के बनते जा रहे हैं। लक्ष्य एक है कि भूख मिट जाए, सर्दी-गर्मी से बचाव हो जाए। लक्ष्य एक होने पर भी प्रकार अलग-अलग बन जाते हैं और उनके अलग-अलग निर्माता-संस्कर्ता हो जाते हैं। ध्यान भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिस दिन मनुष्य ने ध्यान करना सीखा, उसे कुछ मिला। उससे महसूस हुआ कि ध्यान उपयोगी है, मूल्यवान है। जब मूल्य होता है तो उसके साथ उसकी अर्थवत्ता भी बढ़ जाती है। कभी जब ध्यान का प्रचलन हुआ था, तब उसकी एक ही शाखा रही होगी। धीरे-धीरे उसकी अनेक शाखाएं चल पड़ीं। आज अनेक ध्यान पद्धतियां चल रही हैं।

भावातीत ध्यान

ध्यान की एक शाखा है—भावातीत ध्यान। संक्षेप में इसे 'टी.एम.' भी कहा जाता है। हम प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान—इन दोनों पद्धतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। भावातीत ध्यान का वैज्ञानिक साहित्य तो बहुत है, किंतु इसके मूल स्वरूप को बताने वाला साहित्य बहुत कम है। इसके प्रशिक्षकों की संख्या काफी है। भावातीत ध्यान के अनेक प्रशिक्षक प्रेक्षाध्यान के शिविरों में भी महीनों तक रहे हैं। उनसे बात करने पर पता चला कि भावातीत ध्यान में एक मंत्र का प्रयोग कराया जाता है। यह बीस मिनट का प्रयोग होता है। मंत्र की एक निश्चित विधि है। उसका जप करते-करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है। भावना से अतीत होकर वह गहरी एकाग्रता में चला जाता है। भावातीत ध्यान के संदर्भ में इसके अतिरिक्त कुछ भी जानने को नहीं मिला।

कठिन है शून्य को जानना

मंत्र जप के प्रयोग का नाम रखा गया है भावातीत ध्यान। भावातीत को निर्विकल्प ध्यान भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या जप द्वारा यह संभव है? जप केवल उच्चारण ही नहीं है। जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते हैं तो उसे विराम देने की जरूरत होती है। हम उच्चारण से जप शुरू करें और उसे विराम देते चले जाएं। इस स्थिति में हो सकता है कि एक नमस्कार मंत्र गिनने में एक मिनट लग जाए, दो मिनट लग जाए। जितना विराम देंगे, अंतराल बढ़ता चला जाएगा। सबसे महत्त्वपूर्ण होता है—शून्य रहना। खाली रहने वाली बात समझ में आए—तब जप ठीक होता है। भरे हुए को जानना कठिन नहीं है। कठिन है शून्य को जानना। हम श्वास को भी देखते हैं—श्वास भीतर गया, वह बाहर आने वाला है। श्वास आने और जाने के बीच के अंतराल को (शून्य को) पकड़ें। यह मर्म की बात है।

भावातीत चेतना : समाधि

ध्यान के हर क्षण में शून्य को पकड़ना बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया विश्राम लेती है। उस विश्राम के क्षण को पकड़ना महत्त्व की बात होती है। ध्यान और जप के संदर्भ में भी यही बात है। जप का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है खाली रहना। हम जितना अंतराल देना सीखेंगे, उतना ही भावातीत ध्यान सधता चला जाएगा। व्यक्ति भावातीत बनता है अंतराल के कारण। जैसे-जैसे जप आगे बढ़ेगा, अंतराल आगे बढ़ता चला जाएगा। एक बार मंत्र जपा और पांच सैकेंड बिल्कुल निर्विकल्प रहें। यह अवस्था बढ़ती चली जाए, जप भावातीत हो जाएगा। एक समय ऐसी स्थिति आती है कि शब्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है। यही है भावातीत ध्यान। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। पहले शब्द और विचार का आलंबन लिया जाता है—वह निर्विचार में बदल जाता है, शब्द और विचार छूट जाते हैं, केवल तन्मात्र रह जाता है, अर्थ की अनुभूति रह जाती है। हम प्रेक्षाध्यान में 'अर्हं' का जप करवाते हैं। जप करते-करते 'अर्हं' शब्द छूट जाता है। 'अर्हं' का अर्थमात्र रह जाता है, व्यक्ति समाधि में चला जाता है। यही भावातीत ध्यान है, हमारी भावातीत चेतना है।

जप का महत्त्व

प्रेक्षाध्यान में जप सम्मत है, अस्वीकृत नहीं है। एकाग्रता के लिए जप का प्रयोग बहुत जरूरी होता है। जप और भावना—दो नहीं हैं। इसे तन्मयध्यान भी कहा जा

सकता है—साध्यमय हो जाना, साधक और साध्य का भेद न रहना। यह गुण-संक्रमण का सिद्धांत है—ध्येय को अपने आप में संक्रांत कर देना। अगर हम गरुड़ का ध्यान करें तो स्वयं में गरुड़ की अनुभूति भी करें। जिसका ध्यान करें—अपने-आप में उस स्थिति का अनुभव करना, तन्मयध्यान, तद्रूपध्यान, समापत्ति या भावना है। ये भावना के प्रयोग हैं। 'तद् जपः तदर्थभावनम्'। 'अर्हं' का जप करते समय 'अर्हंमय' हो जाना, यह भावना है और यही जप है। इसमें वह क्षण भी आ सकता है कि अपरिमित आनंद आने लग जाए, शक्ति अपरिमिति जाग जाए और हमारा परिणमन वैसा होने लग जाए।

शब्द की शक्ति

प्रेक्षाध्यान में जप का यह प्रयोग भी कराया जाता है। शब्द और अशब्द—ये दोनों पद्धतियां जिस ध्यान में नहीं होतीं, हमारी दृष्टि में ध्यान की वह पद्धति पूर्ण नहीं है। शब्द हमारा बहुत विकास करने वाला है। शब्द के अभाव में विकास रुक जाएगा। 'शब्द' या 'सुरता' एक ही बात है। कबीर ने 'सुरता' का बहुत प्रयोग किया है। मंत्र निर्माता जानता है कि किन शब्दों का गठन होना चाहिए? मंत्र में शब्द का अर्थ गौण होता है, केवल शब्द की शक्ति होती है। गठन का आधार रहता है—प्रकंपन। अमुक-अमुक शब्द मिलकर किस प्रकार का प्रकंपन पैदा करेंगे, इस आधार पर शब्द संरचना संगठित होती है। सारी ध्वनि-चिकित्सा प्रकंपनों के आधार पर चलती है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में भी ध्वनि-चिकित्सा के बहुत-से प्रयोग किए गए हैं। जहां हजार दवाइयां काम नहीं करती, वहां एक 'शब्द' काम कर जाता है।

भावातीत ध्यान : अनुप्रेक्षा

शब्दों का गठन, प्रकंपन और भावना—तीन का योग बनता है और जप शुरू हो जाता है, व्यक्ति भावातीत स्थिति में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप अनुप्रेक्षा के साथ चलता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक प्रकार है। स्वाध्याय ध्यान का आदि सोपान है। ध्यान और अनुप्रेक्षा का योग है। प्रेक्षा में जो सचाइयां मिलती हैं, उनको जीवनगत बनाना है तो आवृत्तियां करनी होंगी। आवृत्ति करते रहने से मन पर उसका संस्कार होना शुरू हो जाएगा। शब्द की महिमा का प्रभाव हमारे भीतर तक पैठा हुआ है। हम सारे अर्थों को शब्द के माध्यम से ही जान रहे हैं। इसलिए शब्द-शक्ति से जुड़े प्रयोग महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। मंत्र जप की साधना के संदर्भ में प्रेक्षाध्यान की एक पद्धति अनुप्रेक्षा और भावातीत ध्यान—दोनों की एक दृष्टि से तुलना कर सकते हैं। ❖

हम मानते हैं—और मेरे विचार से यही सत्य है—कि जितने प्राणी हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं, और इसलिए हम यह भी कहते हैं कि ईश्वर अनाम है; और चूंकि उसके अनेक रूप हैं, इसलिए हम उसे अरूप कहते हैं; और वह हमसे कई वाणियों में बात करता है, इसलिए हम उसे अवाक् कहते हैं; इत्यादि-इत्यादि। इसी तरह मैंने इस्लाम का अध्ययन किया तब मुझे पता लगा कि इस्लाम में भी ईश्वर के अनेक नाम हैं। जो यह कहते हैं कि ईश्वर प्रेम है, उनके स्वर में स्वर मिलाकर मैं भी कहूंगा कि ईश्वर प्रेम है। लेकिन अपने हृदय की गहराई में मैं यही कहता हूं कि ईश्वर प्रेम-रूप होगा, पर सबसे अधिक तो वह सत्य-रूप है। यदि मनुष्य की वाणी के लिए ईश्वर का संपूर्ण वर्णन करना संभव हो तो मैं स्वयं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि ईश्वर सत्य है। किंतु दो वर्ष पूर्व मैं एक कदम और आगे बढ़ा और मैंने कहा—सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर सत्य है और सत्य ही ईश्वर है—इन दोनों बातों के बीच के सूक्ष्म भेद को आप समझते होंगे। इस निष्कर्ष पर मैं इतने वर्षों तक सत्य की अनवरत और कठिन खोज के बाद पहुंचा हूं। मैंने पाया कि सत्य तक पहुंचने का निकटतम मार्ग प्रेम का है।

—महात्मा गांधी

प्रौद्योगिकी को स्वतंत्रता प्राप्ति एवं सत्य की खोज में अग्रसर होते मानव को सहायता देनी थी, वह भी एक साधन थी, है—उसने एक हद तक यह भूमिका निबाही भी है। निश्चित रूप से उसने मानव जाति को वे सहूलियतें भी दी हैं जो कल्पनातीत थीं। लेकिन प्रदत्त सहूलियतों के साथ-साथ उसने समानांतर समस्याएं एवं संकट भी उत्पन्न किए हैं जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन समानांतर समस्याओं एवं संकटों के कारण स्वतंत्रता में सहायक हो सकने वाला विकास ही उसकी परतंत्रता की वजह बन गया। आश्रय ही निराश्रय का निर्माता हो गया। अपनी समस्याओं के निराकरण के माध्यम ने उसके सामने अपरिमित उलझनें खड़ी कर दीं। इस सुविधा ने मनुष्य और उसके वास्तविक लक्ष्य के बीच में एक फिक्री फासला पैदा कर दिया। क्योंकि सुविधा—अपने संकुचित अर्थों में—भौतिक सुख का पर्याय बन गई।

प्रौद्योगिकी : स्वतंत्रता और सत्य की खोज

शीन काफ़ निज़ाम

मानव को जिस दिन से चेतना हुई उसी दिन से उसमें अपने 'होने' का औचित्य जानने की भी आकांक्षा पैदा हो गई। और उसी दिन से वह 'स्वतंत्रता' के लिए बराबर छटपटाए जा रहा है। यदि ईसाई दृष्टिकोण से देखा जाए तो स्वतंत्रता के लिए मानव-संघर्ष का जो सूत्रपात 'अदन के बाग' से हुआ—जिसकी, उस कथा-काल एवं स्थितियों को देखते हुए, मानव ने बहुत बड़ी कीमत चुकाई। एक के बाद दूसरे-दूसरे से स्वतंत्रता प्राप्त करने की लालसा-कामना के वशीभूत मानव निरंतर कीमतें चुका रहा है। परतंत्रता की परिधि और परतें हर बार उसका कुछ-न-कुछ अभिन्न उससे भिन्न कर देती हैं। ऐतिहासिक काल तक आते-आते तो मनुष्य को प्राप्त स्वतंत्रता की सुरक्षा एवं अप्राप्य स्वतंत्रता के लिए अक्सर उस वस्तु को भी खोना पड़ने लगा, 'स्वतंत्रता' जिसकी 'मूल्य दृष्टि' का अभिन्न अंग थी।

बंधनों की अंतहीन शृंखला में संघर्षरत मनुष्य ने प्राप्य की सुरक्षा एवं अप्राप्य के लिए संघर्ष की अनन्य, युक्तियां भी ढूंढ़ निकालीं। स्वतंत्रता के लिए होने वाले सतत संघर्ष और उसकी प्रक्रिया को ही शायद हमारे यहां चौरासी लाख योनि-योनियों से गुजरने के 'रूपक' में अभिव्यक्त किया गया है। और अंत में मोक्षप्राप्ति की अवधारणा भी शायद इसी बात की द्योतक है कि मानव मस्तिष्क में हर चुनौती से निपटकर परिणाम को अपनी इच्छानुसार प्राप्त करने की संकल्पशक्ति भी है और सामर्थ्य भी।

मुझे प्रौद्योगिकी के संदर्भ में कुछ चर्चा करनी है, इसलिए मैं एक वैज्ञानिक—आइन्स्टाइन की स्वतंत्रता की अवधारणा से बात को शुरू करना चाहूंगा। आइन्स्टाइन के मतानुसार स्वतंत्रता के दो लक्ष्य हैं—जिनमें पहला लक्ष्य—मनुष्य मात्र को स्वास्थ्य और जीवनयापन के लिए कम-से-कम काम में आवश्यक एवं उपयोगी वस्तुएं उपलब्ध कराना है, दूसरे उद्देश्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया है कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अस्तित्व की अनिवार्य आवश्यकताएं तो पूरी करती हैं, लेकिन यही काफी नहीं है। मनुष्य के पास अपनी बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रतिभा के विकास की भी सुविधाएं होनी चाहिएं, ताकि वह अपने व्यक्तित्व की संभावनाओं तथा चरित्र का विकास कर सके।

स्वतंत्रता के संबंध में उनका विचार है कि स्वतंत्रता से अभिप्राय उन सामाजिक स्थितियों से है जो व्यक्ति को अभिव्यक्ति एवं स्वविवेक पर दृढ़ रहने के कारण किसी तरह के संकट में न डाले। अभिव्यक्ति एवं स्वविवेक पर दृढ़ रह सकने की स्वतंत्रता व्यक्ति की चेतना के विकास-विस्तार के लिए आवश्यक है। व्यक्ति को यह सुरक्षा कानून

के द्वारा भी मिलनी चाहिए, लेकिन अकेला कानून ही अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकता। व्यक्ति बिना किसी दंड-भय से विचलित हुए अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर सके—इसके लिए अन्य समाजियों में सहिष्णुता एवं उदारता की भावना भी अपेक्षित और आवश्यक है।

यदि दूसरे लक्ष्य—व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की संभावना को सुरक्षित रखा जाए—के महत्त्व को समाज स्वीकार करता है तो उसके लिए बाह्य स्वतंत्रता की जमानत भी जरूरी है। अर्थात् व्यक्ति को अन्य आवश्यकताओं—पहले लक्ष्य की पूर्ति के लिए इतना श्रम और समय व्यय न करना पड़े कि उसके पास व्यक्तिगत गतिविधियों के लिए समय और सामर्थ्य ही शेष न रहे। यदि उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही पूरा श्रम और समय व्यय कर देना पड़ा तो फिर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही अर्थहीन हो जाएगी। दूसरी स्वतंत्रता की सुरक्षा—भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति—का उत्तरदायित्व, आइन्स्टाइन प्रौद्योगिक-प्रगति को देते हैं, लेकिन वह तभी संभव है जब श्रम का युक्ति-संगत विभाजन हो जाए।

प्रत्यक्ष है कि प्रौद्योगिकी को स्वतंत्रता प्राप्ति एवं सत्य की खोज में अग्रसर होते मानव को सहायता देनी थी, वह भी एक साधन थी, है—उसने एक हद तक यह भूमिका निबाही भी है। निश्चित रूप से उसने मानव जाति को वे सहूलियतें भी दी हैं जो कल्पनातीत थीं। लेकिन प्रदत्त सहूलियतों के साथ-साथ उसने समानांतर समस्याएं एवं संकट भी उत्पन्न किए हैं जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन समानांतर समस्याओं एवं संकटों के कारण स्वतंत्रता में सहायक हो सकने वाला विकास ही उसकी परतंत्रता की वजह बन गया। आश्रय ही निराश्रय का निर्माता हो गया। अपनी समस्याओं के निराकरण के माध्यम ने उसके सामने अपरिमित उलझनें खड़ी कर दीं। इस सुविधा ने मनुष्य और उसके वास्तविक लक्ष्य के बीच में एक फिक्री फासला पैदा कर दिया। क्योंकि सुविधा—अपने संकुचित अर्थों में—भौतिक सुख का पर्याय बन गई। साधन स्वयं साध्य बन गया। औद्योगिकी की यंत्र-व्यवस्था ने उसे उत्पादन की भावना दी तो 'और कुछ' तथा 'कुछ और' ने उत्पादन-वृद्धि, और उत्पादन को खपाने की समस्या ने 'विज्ञापन' और विज्ञापन ने उससे चयन और वरण कर सकने की शक्ति छीनकर उसे मात्र स्वीकार करने की विवशता थमा दी। विज्ञापन व्यक्ति में पहले जिज्ञासा, फिर उत्सुकता पैदा करता है, फिर जरूरत और अंत में जरूरत को आदत में बदलता है। तो इस तरह वह व्यक्ति का उन वस्तुओं से—जिनसे उसका रागात्मक संबंध होता है—संबंध ही विच्छेद करवा देता है।

विज्ञापन व्यवस्था में व्यक्ति बाजार से वस्तु नहीं उसकी कल्पना खरीदता है। यानी वह कल्पना की कीमत चुकाता है। उदाहरण के लिए रेडियो या टी.वी. पर एक विज्ञापन अक्सर दिखाई-सुनाई देता है : रोजाना इस्तेमाल से आदत-सी हो जाती है। यह तो खैर स्पष्ट ही है कि विज्ञापित वस्तु की व्यक्ति को न आवश्यकता है, न आदत, लेकिन अब उसकी ओर उन्मुख होने वाला—व्यक्ति के रूप में नहीं—एक उपभोक्ता के रूप में है। विज्ञापन का उद्देश्य भी यही होता है। इसीलिए तो विज्ञापन में औरत नंगी होती है, बिरहना नहीं। विज्ञापन ने चीजों का चयन भी छीना और उनकी पहचान भी। न केवल वस्तु की पहचान, बल्कि शब्द-पहचान भी—कि वह 'आदत-सी' के 'सी' की ओर ध्यान नहीं दे रहा। शब्दों के अनुशासनविहीन स्रोत पर खड़ा व्यक्ति सिकन्दर का-सा है जो आबे-हयात के चश्मे से प्यासा ही पलट जाता है। रागात्मक-संबंधों की अनुपस्थिति में व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगा है। इस तरह प्रौद्योगिकी ने व्यक्ति से प्रफुल्लता छीन ली है।

मानव सभ्यता के इतिहास में, किसी भी युग के मनुष्य ने एकाकीपन और एकांत में ऐसा अंतर एवं अंतःसंबंधों को चेतन धरातल पर अनुभूत करने की आवश्यकता नहीं समझी। भय और संत्रास का अद्भुत संबंध भी इतना स्पष्ट कभी नहीं हुआ। अस्तित्व पर इतना घातक आक्रमण प्रौद्योगिकी से पहले किसी ने नहीं किया। अपनी असहायता और निरर्थकता का एहसास इतना तीव्र कभी नहीं रहा। इसका एक कारण यह भी रहा कि प्रौद्योगिकीजनित उत्पादन-व्यवस्था व्यक्ति को अपने उत्पादन के संबंध में एक उपयोगी वस्तु ही जानती-मानती है। वह मनुष्य को महज मौजूद मानती है—जो वह है नहीं। मौजूद के साथ उसका अपना वजूद भी तो है—अस्तित्व के साथ-साथ उसमें अस्मिता-बोध भी तो है। वह एक स्वतंत्रताकांक्षी सृजक अस्तित्व है। उत्पादन व्यवस्था की संयंत्र-प्रणाली उसकी आधी आकांक्षाएं ही पूरी करती हैं, शेष आधे—दूसरे लक्ष्य को नजरअंदाज कर सकने का अधिकार भी उसने स्वयं ही ले लिया है। शेष आधे को अनदेखा करने वाली यांत्रिक-व्यवस्था मनुष्य को चकाचौंध तो करती है, चौंकाती तो है, लेकिन उसका चौंकाना जगाना नहीं जानता। यह चुंधियाना-चौंकाना उस चौंकाने या चुंधियाने से भिन्न है जो तूर पर मूसा को मोजिज

(चमत्कार) अता करती है। मोजिज मुनव्वर करता है। चकाचौंध तो यंत्र भी करते हैं, लेकिन मुनव्वर नहीं करते। क्योंकि उनके पास कोई रहस्य है ही नहीं। उनका तो 'नो हाऊ' है। प्रकृति का रहस्य 'नो हाऊ' नहीं होता।

संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि प्रौद्योगिक यंत्र-व्यवस्था ने मानव जाति को एक ऐसे मोड़ पर खड़ा कर दिया है जिसके आगे धुंध ज्यादा है।

साहित्य रचना भी अन्य रचना-कर्मों की तरह स्वतंत्रता की चाह की मांग है। लेकिन जिन परिस्थितियों से आज व्यक्ति गुजर रहा है, उनमें 'साहित्यकार होने का मतलब ही एक बेबसी में मुब्तिला होना है।'

यह सही है कि मानव स्वतंत्रता के लिए छटपटाता रहा है। लेकिन प्राप्य की सुरक्षा एवं अप्राप्य की प्राप्ति, कामना के लिए स्वतंत्रता की चाहना इकहरी नहीं। यदि वह 'किसी से' स्वतंत्र होना चाहता है या 'किसी से' अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा चाहता है तो निश्चित ही वह 'किसी के लिए' स्वतंत्र होना चाहता है और 'किसी के लिए' ही अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा चाहता है। साहित्य के अध्येता से यह बात छिपी हुई नहीं है कि मनुष्य जिसके लिए स्वतंत्रता की सुरक्षा या स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है वह उसकी सृजनात्मकता ही है। ऐसे में स्वतंत्रता-संघर्ष एक ऐसा संघर्ष हो जाता है जो मात्र बाह्य दबावों के विरुद्ध नहीं, बल्कि अंतस्थ निरूपण के भी विरुद्ध है, जिसे व्यक्ति भुगत रहा है। इस दृष्टि से, साहित्यकार की समस्या मानवीय विच्छिन्नता और अलगाव है जिसका मूल कारण आधुनिक प्रौद्योगिकी आधारित उत्पादन व्यवस्था और उससे प्रभावित सामाजिक संबंध हैं।

मानव जीवन में प्रौद्योगिक विकास के पार्श्व-प्रभाव (साइड इफेक्ट) चाहे कैसे भी, किसी भी रूप में रहे हों, लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि उसके पीछे मूल भावना प्राप्त को संरक्षण, सुरक्षा और अप्राप्य को प्राप्त करने के सतत प्रयास में आती अड़चनों से मुक्ति पाना थी। साहित्य का भी—किसी भी रूप में सही—यह धर्म रहा ही है। साहित्यकार की, ऐसे में प्रौद्योगिकी से यही शिकायत होती है कि एक ही गंतव्य तक पहुंचाने को संकल्पबद्ध दो भिन्न रास्तों में से एक स्वयं ही मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर रहा है। उसकी शिकायत यंत्र से नहीं यांत्रिकता से, यंत्र-सत्ता से है। या उस जन समूह से है जो यंत्र को दैवी वरदान समझकर यह विवेक खो रहा है कि इस अवस्था में वह स्वयं ही यंत्र बनता जा रहा है। उसकी चिंता का कारण यह है कि मानव की बजाय कोई 'अन्य' सृष्टि-सत्ता को अपने हाथों में ले रहा है। साथ ही, वह इसलिए भी चिंतित है कि इस व्यवस्था में मनुष्य मानवीय गुण तथा व्यक्ति अपनी जड़ें, अपना निजत्व खोता जा रहा है। उसे अफसोस इस बात का है कि व्यक्ति की अभिव्यक्ति के सारे रास्ते इसलिए रोके जा रहे हैं कि समाज अन्ध उद्देश्यों का दास है। प्रौद्योगिकी यंत्र व्यवस्था उत्पादन के अंध विकास का कारण भी है और उस पर आधारित भी।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि मानव, साहित्य का शाश्वत विषय है। अन्य भी—साहित्य का विषय हैं, तो इसीलिए कि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य से संबंधित हैं। वह मनुष्य ही का अस्तित्व है जिससे वस्तुएं व्यक्त होती हैं और अस्तित्व की भाषा अभिन्न अंग है। अरबी में एक कहावत है—'अलइन्सान बिललिस्सान' अर्थात् मनुष्य भाषा से ही इन्सान है। लेकिन मनुष्य, मात्र भाषा नहीं है। उसी तरह साहित्यिक वस्तु यद्यपि भाषा द्वारा ही उपलब्ध होती है, किंतु वह केवल 'भाषिक' ही नहीं होती। साहित्यकार शब्द-सत्ता का वरण भी इसीलिए तो करता है कि वह सत्य को प्राप्त करना चाहता है। उसका शब्द के प्रति आस्थावान होना या समर्पित होना, शब्द को सत्य मानना या शब्द की साधना करना भी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए ही होता है। उद्वेलित, प्रभावित कर सकने वाला होना या अभिभूत या द्रवीभूत कर सकने वाला होना ही लेखक होना नहीं है। यह कार्य तो वे भी कर सकते हैं—बल्कि साहित्यकार या लेखक की तुलना में अधिक सफलता से कर सकते हैं—जिनका साहित्य-सृजन से कोई संबंध ही नहीं होता। साहित्यिक कृति होना पाठकीय स्वतंत्रता का संप्रेषित होना भी तो है। इसीलिए उसका कोई अंत या उद्देश्य नहीं, वह तो स्वतः एक अंत, एक उद्देश्य है। कला का धर्म ही दुनिया को उसी तरह प्रस्तुत होने देना है—जैसी कि वह है, लेकिन वह भी इस तरह कि गोया उसका स्रोत मानवीय स्वतंत्रता में ही हो। सार्त्र ने यह कहा था कि साहित्य का तो एक ही विषय है और वह है स्वतंत्रता। शायद इसीलिए तो साहित्य से सामना होते ही लोग अपनी स्वतंत्रता का अनुभव करने लगते हैं। स्पष्ट है कि लेखकीय स्वतंत्रता अन्य लोगों से भिन्न नहीं है। तब क्या संबोधित की स्वतंत्रता-सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी संबोधक पर नहीं आ जाता? लेकिन संबोधित की स्वतंत्रता अक्षीण रहे, संबोधक को ही उसका उपाय, उपचार अगर करना आवश्यक ही जान पड़े, तो वह भी साहित्य ही के माध्यम से करना होता है। साहित्येतर

गतिविधियों द्वारा नहीं। यदि ऐसा नहीं होता है, तो साहित्य में साहित्येतर मांगें सक्रिय होने लगती हैं। और वह उन्हें पूरा नहीं कर पाता।

प्रौद्योगिकी यंत्र-व्यवस्था द्वारा उपेक्षित व्यक्ति—जिसकी तलाश ऐसा व्यक्ति है, जिसे वह कह सके कि हम अकेले हैं—का स्वर इसीलिए 'पापुलर लेखक' कहलाए जाने वालों से अलग हैं। क्या ऐसे में, इस उपेक्षित व्यक्ति का स्वर, 'लाउड' हो सकता है? आडन ने कहा था, 'आधुनिक कविता की चरितगत शैली आवाज का आत्मीय स्वर (इंटिमेट टोन आफ वायस) है, एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से संबोधन, न कि श्रोता-समूह से।' आडन तो यहां तक कहता है कि जब भी आधुनिक कवि अपनी आवाज ऊंची करता है तो 'ही साउन्ड्स फोनी'। स्वर की यह आत्मीयता यांत्रिकता के विरुद्ध क्या एक सृजनात्मक संघर्ष ही नहीं है? इसलिए आधुनिक सभ्यता में उसे एक अनावश्यक वस्तु माना जा रहा है। समाज उसे अनदेखा करता है, क्योंकि यदि समाज अपने को साहित्यरूपी दर्पण में देखे तो उसकी जड़ें तक झनझना उठें। साहित्य समाज का दर्पण होता है लेकिन दर्पण में झांकता कौन है? यदि दर्पण का कोई महत्त्व है तो प्रदत्त बाह्य को सहनीय बनाने तक ही है। भीतर क्या होगा?

भोजपत्रों एवं दीवारों पर लिखी-रची हुई चीजें मानव की समय से भी स्वतंत्रता-प्राप्ति की इच्छा का परिणाम था। यंत्र-व्यवस्था ने उसे 'बेस्ट्सेलर' तो बना दिया है, लेकिन साथ ही उसने उसे व्यावसायिक भी बना दिया है। यंत्र की सहायता से उसने अपने सृजन के रूप में विधान को भी बदला है। यंत्र ने उसके कला-कर्म को जटिल भी बनाया है। लेकिन इन सभी प्रश्नों पर पूरे विस्तार से विचार अपेक्षित है और उस पर शायद अलग से विचार हो भी। ❖

अच्छा, यह बात है!

जेन भिक्षु हेकुइन के सादे व पवित्र जीवन से प्रभावित होकर सभी पास-पड़ोसी उसकी खूब प्रशंसा करते थे।

कुछ ही दूरी पर एक जापानी परिवार रहता था। पंसारी की दूकान थी और एक जवान लड़की थी। निहायत खूबसूरत। अनायास एक दिन अप्रत्याशित दुःस्वप्न की तरह पिता को पता चला कि उसकी बेटी गर्भवती है।

मां-बाप का गुस्सा भड़कना स्वाभाविक ही था। पूछताछ करके हैरान हो गए, मगर अड़ियल लड़की टस-से-मस नहीं हुई। आखिर हरदम तंग करने से लड़की पस्त हो गई और उसने धीमी जबान से हेकुइन का नाम बता दिया।

गुस्से में उबलते मां-बाप भिक्षु के पास पहुंचे। उसे बहुत खरी-खोटी सुनाई। बिना किसी प्रतिवाद के वह चुपचाप सुनता रहा। अंत में सहज सादे सुर में इतना ही बोला, 'अच्छा, यह बात है!'

उस बात के बाद हेकुइन की साख-प्रतिष्ठा एकदम गिर गई। लोग उससे कतराने लगे। रास्ते में भेंट होने पर मुंह फिराने लगे। लेकिन उसके सहज दैनिक जीवन में उस घटना का रंच-मात्र भी असर नहीं हुआ। वही सहज गति और वही सहज दृष्टि। लोग मन-ही-मन सोचते, कितना घुन्ना और पाखंडी है! लड़की से बच्चा हुआ तो घर वालों ने तुरंत उसका पाप उसके हवाले कर दिया और उसने सहज भाव से उसे अंगीकार किया। मां के अभाव में भी उसने सद्यःजात बच्चे की बहुत एहतियात से परवरिश की। बच्चे की हर जरूरत को वह पूरा करता रहा।

लेकिन साल-भर से अधिक अपराधिनी मां जेन भिक्षु के सहज व्यवहार को सहन नहीं कर सकी। वह भीतर-ही-भीतर कट रही थी, पिघल रही थी। आखिर एक दिन उसका धीरज टूटा। साल-भर की दबी सचाई को उसने मां-बाप के सामने प्रकट कर दिया कि बच्चे का असली पिता एक दूसरा युवक है, जो मच्छी-बाजार में काम करता है।

मां-बाप अपने दुर्व्यवहार के लिए बहुत ही पछताए। अविलंब भिक्षु के पास पहुंचे और अपने अपराध की क्षमा मांगी। भिक्षु ने पहले की भांति सारी बातें चुपचाप सुनीं। बच्चे को सौंपते समय सहज भाव से इतना ही *बोला, 'अच्छा, यह बात है!'*

रूंख से

गांधी के आर्थिक विचार मात्र आर्थिक प्रश्नों की शास्त्रीय व्याख्या पर आधारित नहीं हैं। गांधी चूंकि जीवन को समग्र दृष्टिकोण से देखते थे, अतः उन्होंने नैतिक आस्थाओं को भी आर्थिक क्षेत्र में लागू करने का प्रयास किया। इसी कारण गांधी ने आर्थिक विचारों की अपनी पद्धति को 'मानवीय अर्थशास्त्र' की संज्ञा दी। उन्होंने स्पष्ट किया कि आर्थिक संबंधों में सत्य और अहिंसा की प्रयुक्ति मानवीय अर्थशास्त्र का आधार है।

गांधी का मानवीय अर्थशास्त्र

डॉ. राधाकुमारी

गांधी के आर्थिक विचारों का दार्शनिक विवेचन यह दर्शाता है कि आधुनिक अर्थशास्त्री प्रायः पृथक् एवं पूर्णतः स्वायत्त प्रतिमान निर्मित करते हैं जो कि उनके स्व और शेष विश्व के मध्य स्पष्ट विभाजन की स्वीकृति की धारणा से संगति रखता है। उनके अनुसार मनुष्य को लिप्साओं से संचालित होने वाला एक सीमित, भौतिक और यांत्रिक प्राणी मात्र मान लिया जाता है। वस्तुओं के उपभोग से होने वाली लिप्साओं की तुष्टि उसे खुशी प्रदान करती है और 'एक तथाकथित विवेकी व्यक्ति' सदैव उसे बढ़ाने की कोशिश में लगा रहता है। इस प्रकार व्यक्ति को असीमित इच्छाओं का उपभोक्ता मात्र समझा जाता है एवं एक अर्थशास्त्री का, सामान्यतः, उद्देश्य भौतिकवाद का अनुसरण करते हुए संपत्ति में वृद्धि और मानव के कल्याण व सुख में वृद्धि हेतु वस्तुओं एवं सेवाओं की उपलब्धता हेतु तीव्र आर्थिक वृद्धि-दर की प्राप्ति करना मात्र हो जाता है। अतः असीमित तकनीकी प्रगति को उत्पादन में वृद्धि करने हेतु अपनाया जाता है, क्योंकि अर्थशास्त्र में 'अधिक' हमेशा और 'अच्छा' होता है।

गांधी के आर्थिक विचार मात्र आर्थिक प्रश्नों की शास्त्रीय व्याख्या पर आधारित नहीं हैं। गांधी चूंकि जीवन को समग्र दृष्टिकोण से देखते थे, अतः उन्होंने नैतिक आस्थाओं को भी आर्थिक क्षेत्र में लागू करने का प्रयास किया। इसी कारण गांधी ने आर्थिक विचारों की अपनी पद्धति को 'मानवीय अर्थशास्त्र' की संज्ञा दी। उन्होंने स्पष्ट किया कि आर्थिक संबंधों में सत्य और अहिंसा की प्रयुक्ति मानवीय अर्थशास्त्र का आधार है।

गांधी की स्पष्ट मान्यता है कि 'अर्थशास्त्र' व 'नैतिकता' वस्तुतः एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। अतः शाश्वत व उदार नैतिकता उनके आर्थिक विचारों की आधारशिला है।[1]

उन्होंने नैतिकता-विहीन आर्थिक सिद्धांतों को प्राण-विहीन अर्थशास्त्र की संज्ञा दी। उनके शब्दों में वह अर्थशास्त्र, जो नैतिक और भावनात्मक पक्षों की उपेक्षा करता है, मोम की मूर्ति की तरह है, जो लगती चाहे सजीव हो, किंतु होती प्राणविहीन है।[2]

इस संदर्भ में डॉ. सनयात सेन द्वारा बताए गए तीन आधारभूत सिद्धातों पर विचार करना उचित है—राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र और आजीविका। डॉ. सनयात सेन के अनुसार हमारा नियोजन स्वदेशी सभ्यता और संस्कृति-आधारित होना चाहिए तथा राष्ट्र के किसी वर्ग एवं समूहविशेष के स्थान पर संपूर्ण राष्ट्र के कल्याण व सुख में बढ़ोतरी करने वाला हो, यह आर्थिक विकास का प्रथम सिद्धांत होना चाहिए। नियोजन का परिणाम लोकतांत्रिक हो, न कि सर्वाधिकारवादी नियंत्रणों से नियंत्रित होने वाले लोगों की पलटन। आर्थिक विकास राज्य के नियंत्रण व दबाव को न्यूनतम करने वाला हो। यह स्मरणीय है कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक प्रजातंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः विकास का तीसरा सिद्धांत न्यायपूर्ण व सम्मानजनक साधनों से प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आजीविका के अर्जन का अधिकार प्रदान करना होना चाहिए।[3]

डॉ. सनयात सेन द्वारा उल्लिखित नियोजन के तीनों सिद्धांतों में महात्मा गांधी का समर्थन देखा जा सकता है,

किंतु थोड़ा भिन्न तरीके से। गांधी औद्योगिकीकरण को रोकना चाहते थे, साथ ही राष्ट्रवाद गांधी की कल्पना में विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है, किंतु अंतरराष्ट्रवाद का वह अनिवार्यतः पूरक होना चाहिए।

गांधी ने स्पष्टतः इंगित किया कि 'मेरे लिए भारत एवं समस्त विश्व के आर्थिक संविधान में कोई भी व्यक्ति भोजन तथा वस्त्र के अभाव से पीड़ित न हो। अन्य शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति के पास इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु पर्याप्त रोजगार हो। इस आदर्श की प्राप्ति सार्वभौमिक रूप से संभव है, यदि जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन साधारण जन के नियंत्रण में हों। ये प्रत्येक व्यक्ति को हवा और जल की भांति आसानी से सुलभ हों एवं किसी भी व्यक्ति, समूह अथवा राष्ट्र द्वारा उन पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास अन्यान्य माना जाए। इस साधारण सिद्धांत की उपेक्षा ही निराश्रयता का कारण बनती है, जो कि आज न केवल भारत में, वरन् विश्व के अन्य भागों में भी दिखाई दे रही है।'[4]

गांधी की सोच के अनुसार, 'नियोजन प्रत्येक नागरिक के जीवन से जुड़ा हुआ होना चाहिए और साधारण मनुष्यों में से साधारणतम को नियोजन का अर्थ एवं उद्देश्य समझना चाहिए। विकास की प्रक्रिया में साधारण जन की भागीदारी होनी चाहिए तथा इस प्रक्रिया में राज्य की भूमिका न्यूनतम होनी चाहिए। व्यक्तियों को भुगतान लाभ के आधार पर नहीं, वरन् गांव के लोगों के औसत उपार्जन के आधार पर करना चाहिए।'

इस प्रकार का नियोजित विकास श्रमकेंद्रित होगा, न कि पूंजीकेंद्रित। निर्यात हेतु उत्पादन को अंतिम प्राथमिकता देनी चाहिए। वन नीति का उद्देश्य वनों की सुरक्षा तथा संरक्षण करना होना चाहिए ताकि वे लोगों की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें तथा लगान के स्तर में वृद्धि के स्थान पर उनकी आर्थिक गतिविधियों का स्तर बना रहे। खनिज संसाधनों का लालच के आधार पर दोहन नहीं होना चाहिए। यातायात और संचार नीति ग्रामीणों के आर्थिक हितों की रक्षा के लिए हो, न कि गांव से धन की निकासी कर उन्हें और गरीब बनाने वाली। उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन का केंद्रीयकरण न हो।

1. कृषिगत विकास, 2. ग्राम उद्योगों का विकास, 3. आवास, स्वास्थ्य व स्वच्छता में उन्नति, 4. ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार, 5. ग्राम संगठनों की प्रोन्नति, 6. ग्रामों के सांस्कृतिक विकास को प्रोत्साहन[5] नियोजन की सर्वोच्च प्राथमिकता होगी।

वास्तविक नियोजन में संसाधनों का समुचित उपयोग निहित होता है। यह पूर्ण रोजगार के आदर्श से संगति रखता है, जैसा कि अर्थशास्त्री मानते हैं एवं इसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रोटी कमाने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। गांधी ने अपने देशवासियों से कहा था—'जब तक कोई भी सामर्थ्यवान पुरुष और स्त्री बिना भोजन अथवा रोजगार के हैं तब तक हमें आराम करने और पर्याप्त भोजन करने में शर्म महसूस करनी चाहिए।'[6] इस प्रकार गांधीय योजना में श्रम और भोजन दोनों साथ हैं तथा नियोजन के आधारभूत उद्देश्य भी हैं।

निस्संदेह गांधी ऐसा प्रतिमान चाहते थे जिसमें बेरोजगारी दूर हो जाए। भारत के संदर्भ में सभी को रोजगार उपलब्ध करवाने के उद्देश्य से तथा गरीबी निवारण हेतु वे ग्रामीण उद्योगों एवं खादी का व्यापक स्तर पर कार्यक्रम चलाना चाहते थे। वे कहा करते थे—यदि सरकार खादी एवं ग्रामोद्योग के बिना भी लोगों को पूर्ण रोजगार प्रदान कर सकती है तो इस क्षेत्र के समस्त रचनात्मक कार्यक्रमों को मैं बंद कर दूंगा। श्रीमन्नारायण से न्यूनतम मानकों की चर्चा करते हुए गांधी ने कहा—'ये न्यूनतम मानक प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हों और निर्धनतम को विशेष रूप से।' गांधी भोजन, वस्त्र एवं आवास के संबंध में क्षेत्रीय स्वावलंबन चाहते थे।

गांधी आधुनिकीकरण और पुनर्निर्माण के भी पक्षधर थे, किंतु साथ ही उनकी यह धारणा थी कि आर्थिक विकास और आर्थिक उन्नति के लिए सर्वोदय का साररूप अंत्योदय है।

गांधी आर्थिक विकास के प्रतिमानों द्वारा सूक्ष्म-इकाई आधारित नियोजन में विश्वास करते थे जो कि धीरे-धीरे निकटवर्ती क्षेत्र, राष्ट्र और अंततः विश्व को इस हेतु प्रोत्साहित कर सके। सेवाग्राम में अपने सहयोगियों से बात करते हुए उन्होंने कहा था—'सेवाग्राम को मेरे आदर्श गांव के रूप में रूपांतरित करना उतना ही कठिन है जितना कि भारत को आदर्श देश के रूप में विकसित करना। किंतु एक बार यदि ऐसा प्रतिमान बन जाए तो यह न केवल पूरे देश, संभवतः संपूर्ण विश्व के लिए आदर्श प्रतिमान होगा।' गांधी ने अधिक घनत्व वाले देशों में, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में विकेंद्रित उत्पादन को प्रोत्साहित किया, क्योंकि अधिक उत्पादन व पूर्ण रोजगार की समस्या सामूहिक उत्पादन की तुलना में समूहों द्वारा उत्पादन से ही हल हो सकती थी।

विकेंद्रित नियोजन के संबंध में गांधी की प्रायः यह आलोचना की जाती है कि नियोजन का आधार ही

केंद्रीयकरण होता है तो गांधीवाद व नियोजन दोनों एक साथ कैसे चल सकते हैं? गांधी-विचारों में इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है—

नियोजन शब्द के प्रति विरोध तकनीकी रूप से मान्य हो सकता है, किंतु वे पूरी तरह आश्वस्त हैं कि इस विरोध में कोई सार नहीं है। वे अस्वीकृत करते हैं कि नियोजन का आधार केवल केंद्रीयकरण हो सकता है। केंद्रीयकरण की भांति विकेंद्रीयकरण नियोजित क्यों नहीं हो सकता।[7]

गांधी नियोजन की पद्धति में साध्य और साधन की पवित्रता में विश्वास करते थे। गांधी का हिंसा से कोई लेना-देना नहीं था, क्योंकि एक नियोजित समाज केवल साधन है, स्वयं में कोई साध्य नहीं। यदि यह साध्य भी होता तो गांधी कभी भी साध्य को साधनों के औचित्य के रूप में नहीं स्वीकार करते थे। साध्य की पवित्रता को बनाए रखने हेतु प्रयुक्त साधन भी समान रूप से पवित्र होने चाहिएं। अतः गांधी हमेशा कहते थे कि एक समाजवादी समाज भी अहिंसा पर आधारित होना चाहिए, न कि खूनी क्रांति पर।

गांधीय विचारधारा पर आधारित नियोजन प्रतिमान निम्नांकित आर्थिक सिद्धांतों पर निर्मित किया जा सकता है—

(1) सादगी और सीमित लिप्साएं

गांधी का विचार था कि आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता का सबसे बड़ा दोष इच्छाओं की अधिकता होना है। आधुनिकीकरण की पाश्चात्य धारणा सादगी और न्यूनतम आवश्यकताओं के विचार से मेल नहीं खाती। गांधी के अनुसार—वस्तुओं की अधिकता के लिए लालच सुख, संतोष व शांति के लिए हानिकारक है।[8]

हमारी आर्थिक नीतियों को गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले लाखों लोगों की आवश्यकता के अनुरूप बनाया जाना चाहिए।

(2) अहिंसक उत्पादन : उचित तकनीकी

ऐसी किसी भी तकनीक का प्रयोग नहीं होना चाहिए जो रोजगार बढ़ाने में सहायक होने की अपेक्षा पूर्वतः नियोजित श्रम को भी विस्थापित कर दे।

(3) अहिंसक कार्य : रोटी के लिए श्रम का सिद्धांत

गांधी का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रोजी-रोटी कमाने हेतु श्रम करना चाहिए। गांधी का विश्वास था कि प्रतिदिन मात्र एक घंटे का शारीरिक श्रम भी चिकित्सा या वकालत जैसे व्यवसायों में लगे हुए लोगों में श्रम के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न कर देगा तथा उनमें ऐसा दृष्टिकोण विकसित करेगा कि वे श्रम से जीविका कमाने वाले व्यक्तियों की आर्थिक कठिनाइयों के प्रति संवेदनशील हों। यह मनःस्थिति उन्हें उनके शुल्क उदार करने हेतु प्रेरित कर देगी। कवि और दार्शनिक भी शारीरिक श्रम से प्रेरित होकर अधिक सृजनशील बन जाएंगे। उन्होंने शरीर श्रम के विचार को दिव्य माना और कहा—ईश्वर ने मनुष्य का निर्माण श्रम द्वारा अपना भोजन प्राप्त करने के लिए किया है। जो श्रम किए बिना खाते हैं—वे चोर हैं।[9] उनका मत था कि कायिक श्रम की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने से विभिन्न व्यवसायों के मध्य भेदभावों का आधार ही समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार शरीर श्रम का विचार समानता और सामाजिक सद्भाव—दोनों को एक साथ सुनिश्चित करेगा जो कि शांति की अनिवार्य शर्त है।

(4) अहिंसक वितरण समानता

गांधी समानता में मुख्यतया दो बातों को शामिल करते थे—1. प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का अधिकार प्राप्त हो, अर्थात् उनकी न्यूनतम आवश्यकताएं पूर्ण हों एवं 2. समानता अर्थात् शोषण का अभाव। उनका मत है—'जीवन के प्रति दृष्टिकोण में जब स्वार्थ केंद्रीय तत्त्व बन जाता है, तब असमानता सामाजिक व्यवस्था का सहज तत्त्व बन जाता है और शोषण और दमन असमानता के साथ जुड़ जाते हैं।'[10] इस प्रकार उनके मत में स्वार्थ ही समाज में असमानता, शोषण और दमन और अंततः संघर्ष का मूल कारण है। इस प्रकार आर्थिक संबंधों में स्वार्थवृत्ति का निराकरण करके वे एक शांतिपूर्ण समतामय समाज की स्थापना करना चाहते थे।

(5) अहिंसक साझेदारी : सहयोग

गांधी प्रतिस्पर्द्धा में विश्वास नहीं रखते थे। गांधी के अनुसार प्रतिस्पर्द्धा से भय और असुरक्षा का जन्म होता है, जबकि सहयोग परस्पर सहायता को प्रोत्साहित करता है।

गांधी वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग के हिमायती थे। गांधी ने भलीभांति यह स्पष्ट कर दिया कि वे वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व को नहीं नकारते। वे वस्तुतः उसके औचित्य को अस्वीकार करते हैं। क्योंकि वे दृढ़ता से अनुभव करते हैं कि उसे टाला जा सकता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वर्ग-सहयोग के उनके विचार का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे पूंजीवादी शोषण का विरोध नहीं करते। उन्होंने पूंजीपतियों के शोषण के विरुद्ध संघर्ष को अनिवार्य माना। उनके अनुसार जब तक शोषण और शोषण

की इच्छा विद्यमान है, शोषणकर्ताओं से किसी भी प्रकार का सहयोग न किया जाए। प्रत्येक शोषण, शोषित की स्वैच्छिक या विवशताजन्य सहमति के द्वारा ही संभव होता है। चाहे हम इसे कितना ही नकारें, तथ्य यह है कि यदि लोग शोषणकर्ताओं के आदेशों को मानने से मना कर दें तो शोषण पूरी तरह समाप्त हो जाएगा।[11]

(6) अहिंसक उपभोग : अपरिग्रह

यह अवधारणा आवश्यकताओं को न्यूनतम करने से संबंधित है। अपरिग्रह अहिंसा से संबंधित है। आखिरकार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार प्राप्त है, अतः व्यक्ति को लाखों लोगों की सामर्थ्य से परे वस्तु को न रखने के स्वर्णिम सूत्र को जीवन में अपनाना चाहिए। यह मानवीय लिप्साओं की अधिकता का भी निषेध करेगा।

(7) आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था

गांधी ने स्पष्ट किया कि ऐसी अर्थव्यवस्था ग्राम-प्रधान लघु एवं कुटीर उद्योगों पर आधारित होगी। इस व्यवस्था में उत्पादन के लिए भारी-भरकम और आधुनिक मशीनों का आश्रय नहीं लिया जाएगा। अतः उत्पादन विपुल मात्रा में नहीं होगा और न ही भारी मात्रा में पूंजी के विनियोग की आवश्यकता होगी। इस उत्पादन प्रणाली में पूंजी की तुलना में श्रम की प्रतिष्ठा होगी, अतः उत्पादन शोषण को जन्म नहीं देगा।

विकेंद्रीकरण इस व्यवस्था का मूलमंत्र होगा। गांधी ने स्पष्ट किया कि लघु एवं कुटीर उद्योगों पर आधारित अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन मुख्यतः स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होगा। अतः स्थानीय उत्पादन, स्थानीय उपभोग और विवेकसम्मत वितरण, अर्थ व्यवस्था के निर्देशक सूत्र होंगे। यह ग्रामीण व्यवस्था उत्पादन की केंद्रीय प्रणाली से इस अर्थ में भिन्न होगी कि इसमें भारी मात्रा में उत्पादन करने के बजाय, उत्पादन की प्रक्रिया में जनता की व्यापकतम भागीदारी पर बल दिया जाएगा। इस व्यवस्था में उपभोग की प्रवृत्ति पूंजीवादी विलासिता-प्रधान पद्धति से इस अर्थ में भिन्न होगी कि इसमें उपभोग को बढ़ाने के लिए व्यक्ति की आवश्यकताओं और विलासिता का अनावश्यक विस्तार नहीं किया जाएगा। इस व्यवस्था में न्यायसम्मत वितरण समाजवादी व्यवस्था से इस अर्थ में भिन्न होगा कि न्यायसम्मत वितरण के लिए राज्य की दमनकारी शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाएगा, अपितु उपभोग का स्थानीयकरण ही यह सुनिश्चित कर देगा कि उत्पादन का, समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप न्यायसम्मत वितरण हो, क्योंकि उत्पादन ही केंद्रीकृत नहीं होगा, अतः वितरण की जटिलता की संभावना ही नहीं रहेगी।

इस विकेंद्रीकृत ग्राम-प्रधान अर्थव्यवस्था में श्रम एवं पूंजी के मध्य विवाद नहीं होंगे और गरीबी, बेरोजगारी और असमानता की समस्या भी नहीं होगी।[12] ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के माध्यम से गांधी ऐसे आत्मनिर्भर, समुन्नत और सुसंस्कृत ग्रामीण जीवन की कल्पना करते हैं जिसमें अभावों, कटुता, घृणा, द्वेष और भौतिक उपलब्धियों की लालसा आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं हो। ऐसी आदर्श व्यवस्था अनिवार्यतः शांतिपूर्ण व्यवस्था के रूप में फलित होगी।

(8) अहिंसक स्वामित्व : ट्रस्टीशिप

गांधी ने व्यक्तिगत व सामाजिक हितों में संघर्ष को स्वीकार नहीं किया। अतः व्यक्ति स्वयं के सुख के साथ संपूर्ण समाज के सुख का भी ध्यान रख सकता है। यदि यह आधारभूत तथ्य समझ में आ जाए तो 'सादा जीवन' का तर्क अच्छी तरह समझ में आ जाएगा। 'ट्रस्टीशिप' के अंतर्गत धनिक को अपने ही धन के न्यासी की भांति रहना होगा। यह समानता स्थापित करने का एक अनूठा तरीका है।

हरमन फाइनर के अनुसार—व्यक्ति उच्च जीवन स्तर की आकांक्षा लेकर जीवित रहता है और यही लालच उसकी अधिकांश वर्तमान, राजनीतिक, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का कारण है।[13]

अतः गांधी ने धनिकों के लिए स्वैच्छिक नियंत्रण, आवश्यकताओं को न्यून करने का सुझाव दिया है। आवश्यकताओं में वृद्धि का अनियंत्रित विकास प्रकृति के कानून के विरुद्ध है। ईश्वर, जितनी आवश्यकता है उससे अधिक का सृजन ही नहीं करता।[14]

यह सिद्धांत अपरिग्रह पर तथा भारतीय दर्शन व धर्म की स्वीकृति पर आधारित है। गीता व अंग्रेजी कानून में यह बीज रूप में मिलता है। यदि कुछ धनिक भी न्यासी के रूप में व्यवहार करना प्रारंभ कर दें तो पृथ्वी पर समानता व प्रेम का राज्य स्थापित हो जाए। एक न्यासी का जनता के अतिरिक्त कोई उत्तराधिकारी नहीं होता। यदि धनिक स्वयं न्यासी नहीं बनेंगे तो जनता का असहयोग उन्हें न्यासी बनने के लिए विवश कर देगा।

गांधी के इस सिद्धांत में जहां स्वयं कार्य करने की प्रेरणा व कुशलता के संरक्षण की अपेक्षा—जो पूंजीवाद का

शेष पृष्ठ 41 पर

अनुभूति

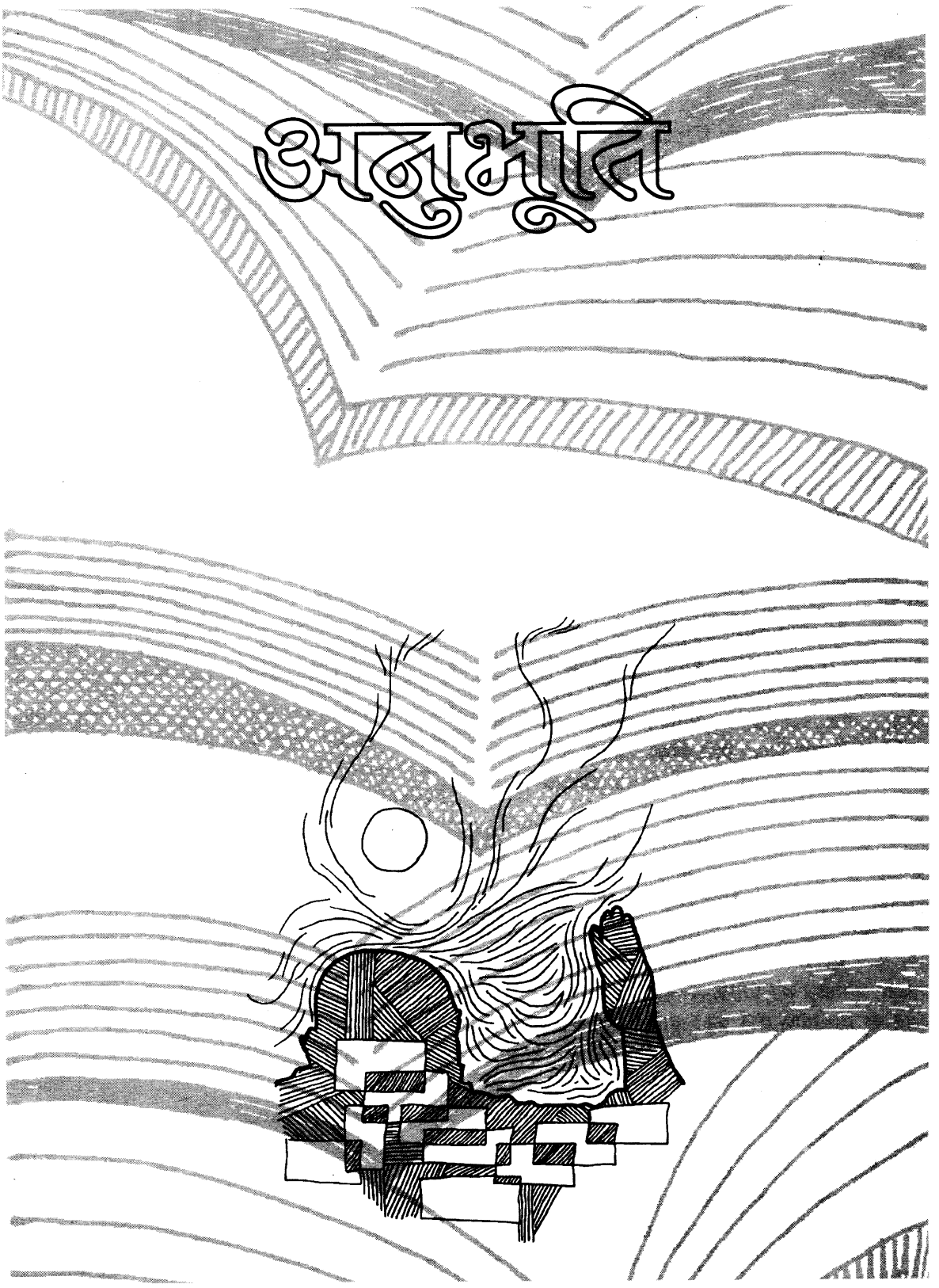

'क्षति'। उन्होंने कहा, 'संसार में वह व्यक्ति कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता, जो खोता नहीं। हमारे हाथ अनायास ही जो-कुछ लग जाता है, उसे हम पूरे तौर पर प्राप्त नहीं कर सकते; लेकिन उसके त्याग के द्वारा हम जब उसे प्राप्त करते हैं तो वह सचमुच हमारे अंतर् का धन हो जाता है। प्रकृत रूप से हमें जो संपदा प्राप्त है, वह हमारी आंखों से दूर हो जाए और जो व्यक्ति इसे हमेशा के लिए खो दे, वह अभागा ही है लेकिन मानव के हृदय में उसे त्यागकर, उसे और अधिक मात्रा में पाने की क्षमता है। मुझसे जो दूर जा रहा है, उसके बारे में अगर हम विनत भाव से, करबद्ध होकर यह कह सकें कि 'मैंने दिया, अपने त्याग का दान दिया, अपने दुख का दान दिया, अपने अश्रुओं का दान दिया', तो क्षुद्र ही विराट हो उठता है, अनित्य नित्य रूप हो जाता है और जो हमारे व्यवहार के उपकरण मात्र थे, वे पूजा के साधन बनकर हमारे अंतःकरण के देवमंदिर के रत्न-भंडार में चिरसंचित रहते हैं।'

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

संदेश काव्यों की कुछ अनूठी विशेषताएं हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि जैन धर्म त्यागपूर्ण जीवन में अधिक विश्वास रखता है। मानव जीवन में अहिंसा, त्याग, तपस्या, सात्त्विकता तथा सहिष्णुता आदि गुणों का होना अनिवार्य है। अपने काव्यों में जैन आचार्यों ने इन्हीं गुणों के महत्त्व को प्रतिपादित कर संपूर्ण मानवजाति के लिए एक प्रेरणादायक शुभ संदेश प्रेषित किया है।

संदेश काव्य परंपरा एवं जैन कवि

प्रो. एस.के. पारख

संदेश काव्यों की अखंड परंपरा का प्रारंभ संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास द्वारा निर्मित प्रसिद्ध कृति 'मेघदूत' से माना जाता है। यद्यपि इससे पूर्व ऋग्वेद में सरमा के, वाल्मीकि रामायण में हनुमान के, महाभारत में कृष्ण के, श्रीमद्भागवत में उद्धव के दूत कर्म का उल्लेख हुआ है, परंतु महाकवि कालिदास ने अपनी तीव्र एवं गंभीर भावानुभूतियों द्वारा मानवमन की गंभीर विरहानुभूति का मार्मिक चित्रण जिस आत्मीय तल्लीनता के साथ किया, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। कालिदास का 'मेघदूत' आने वाली कई शताब्दियों तक कवियों का प्रेरणास्रोत रहा है, रहेगा। 'मेघदूत' के माधुर्य एवं लालित्य ने केवल जैनेतर कवियों को ही दूत काव्यों के रूप में मधुरभाव की विरहासक्ति व्यक्त करने को प्रेरित नहीं किया, प्रत्युत जैन कवियों ने भी धार्मिक रचनाओं में उसकी शैली का अनुकरण किया है।[1]

संदेश काव्यों की परंपरा में एक दृष्टिकोण से जैन आचार्यों को निस्संदेह प्रयोगवादी कवि कहा जा सकता है। शृंगार रस की परंपरा में धार्मिक तत्त्वों का समावेश कर इन महाकवियों ने अपनी प्रतिभा से एक नवीन दिशा का निर्देशन किया है। जैन आचार्य जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' चार भागों में विभक्त है। इसमें 'मेघदूत' के छंदों के चरणों की समस्यापूर्ति अत्यंत कौशल से की गई है। कमठ तथा मरुभूति के अनेक योनियों में कर्मानुसार जन्म लेने की कथा वर्णित है। अंत में मरुभूति (श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर का पूर्वभव का जीव) की सहिष्णुता से कमठ के सारे पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार पार्श्वनाथ की अपूर्व महिमा द्वारा काव्य में भक्तितत्त्व का समावेश किया गया है। समस्यापूर्ति की दृष्टि से काव्य की सफलता असंदिग्ध है, परंतु विभिन्न जन्मों की कथा के कारण काव्य की स्वाभाविकता को ठेस पहुंची है। वर्णन योजना, प्राकृतिक दृश्यों तथा भावपूर्ण स्थलों पर कवि की प्रतिभा निखर उठी है। भाषा की दृष्टि से यह बहुत प्रौढ़ कृति है। जैन साहित्य में धार्मिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक दृष्टि से इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जैन धर्म के 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ की जीवन कथा से संबद्ध दो अन्य कृतियां क्रमशः विक्रम कवि की 'नेमिदूत' तथा मेरुतुंग की 'जैन मेघदूत' उपलब्ध होती हैं। इन काव्यों में भगवान नेमिनाथ के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना—संसार-त्याग तथा राजमती का संदेश वर्णित है तथा अंत में राजमती को आत्मानंद की प्राप्ति होती है। भाषा-शैली, विचार-तारतम्य एवं रस की दृष्टि से दोनों कृतियां अत्यंत समृद्ध हैं। दोनों कृतियों में महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि 'नेमिदूत' में समुद्रों, नदियों, नगरों, ग्रामों एवं वृक्षों का स्वाभाविक वर्णन है जिसका 'जैन मेघदूत' में अभाव रहा है। दोनों कृतियों का मार्मिक प्रसंग राजमती का विरह वर्णन है। 'मेघदूत' में जहां नायक अपनी प्रेयसी के वियोग में व्यथित है, वहां प्रस्तुत काव्यों में विरक्त नायक को अनुरक्त करने का प्रयत्न है। राजमती मेघ को दूत बनाकर प्रिय के पास संदेश भेजती है। उसका विरहवर्णन बड़ा मनोवैज्ञानिक एवं अनुभूतिपूर्ण है। 'बिना किसी दोष के असमय में त्यागी गई राजमती के जीवन की ये घड़ियां किस प्रकार व्यतीत हुई होंगी, जबकि प्रिय वियोग में प्राण और सौंदर्य ही शेष रहे होंगे'[2] तथा एक-एक घड़ी की प्रतीति बीते अनेक युगों की भांति हुई

होगी।[3] काव्य का प्रारंभ तथा अंत विरह वर्णन से है। संपूर्ण काव्य में शृंगार रस का साम्राज्य है पर अंतिम श्लोकों में शांत रस की सृष्टि हुई है। यथा—

मुक्ताहारा सजलनयना त्वद्वियोगार्तदीना।
कार्श्ययेन व्यजति विधिना सत्वयैवोयपाद्य।।

'नेमिनाथ'

अथवा

उद्यन्मोह प्रसवएजसा चाम्बरं पूरयन्तोऽ।
भीका भीष्टा मलयमरुतः कामवाहाः प्रससुः।।

'जैन मेघदूत'

पंद्रहवीं शताब्दी की एक अन्य रचना चारित्रसुंदर गणि की 'शीलदूत' है, जिसमें राजकुमार स्थूलभद्र का गृहत्याग कर श्री भद्रबाहु स्वामी द्वारा दीक्षित होना तथा अपने शील के प्रभाव से रानी कोशा को जैन धर्म में दीक्षित करने की कथा है। श्लोक 60 में राजधानी का विस्तृत वर्णन है। गंगा की उठती तरंगों को लेकर कवि ने सुंदर उत्प्रेक्षाएं की हैं।

वादिचंद्र सूरि द्वारा निर्मित 'पवनदूत' (17वीं सदी) में उज्जयिनी के राजा विजयनरेश तथा रानी तारा का विरहवर्णन है। साहित्यिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से यह पर्याप्त सफल संदेश काव्य है।

साहित्य में पशु-पक्षी, पवन, मेघ, चंद्रमा द्वारा समय समय पर कवियों ने संदेश भिजवाए हैं, पर शील व चित्त जैसे भावों को दूत बनाकर किसी ने नहीं भेजा। यद्यपि 'चेतोदूत' का कवि अज्ञात है तथा भावों एवं विषयों की नवीनता की दृष्टि से इस काव्य की मौलिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत काव्य में एक शिष्य का गुरु के चरणों में चित्तरूपी दूत के माध्यम से संदेश प्रेषित किया गया है। काव्य में यत्र-तत्र जैन धर्म के सिद्धांतों का उल्लेख है तथा भक्ति और शांति का साम्राज्य है।

18वीं सदी में श्री विनयविजय गणि द्वारा निर्मित 'इन्दुदूत' संदेश काव्य में चातुर्मास के अंत में स्वयं कवि ने अपने गुरु श्री विजयप्रभु सूरीश्वर को चंद्रमा द्वारा सांवत्सरिक क्षमापण संदेश प्रेषित किया है। इसमें जोधपुर से सूरत तक बीच में आने वाले जैन मंदिरों, पर्वतों, दुर्गों, नदियों, नगरों का वैभवपूर्ण वर्णन है। कवि कहता है—

चित्रे-श्चितंक इह न जनों वीक्ष्य चित्रीयते

काव्य में संदेश थोड़ा है, जैन सिद्धांतों का उल्लेख अधिक है।

संस्कृत जैन कवियों के अंतिम संदेश काव्य 'मेघदूत समस्या लेख' (18वीं सदी) में कवि मेघविजय ने देवपत्तन में स्थित अपने गुरु श्री विजयप्रभु सूरि के पास मेघ द्वारा कुशल वार्ता का संदेश प्रेषित किया है।

इसके अतिरिक्त शांतिनाथ मंदिर, एलोर पर्वत, देवगिरी शोभा एवं जैन तीर्थों का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है। कवि का नाम मेघविजय, काव्य का नाम 'मेघदूत समस्या लेख'। समस्या भी मेघदूत की तथा दूत भी मेघ ही है। संदेश काव्यों में इसका बड़ा विशिष्ट स्थान है।

जैन कवियों के उपर्युक्त संदेश काव्यों में आत्म-चिंतन की प्रधानता है। शृंगार रस के साथ शांत रस की सृष्टि हुई है। लौकिक होते हुए भी अलौकिक तत्त्व की प्रधानता है। भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से ये काव्य महत्त्वपूर्ण हैं। 'शील' एवं 'चित्त' जैसे भावों को दूत बनाना एक सर्वथा नवीन प्रयोग है। नायक-नायिकाओं के चरित्र में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा हुई है। जैन धर्म का उल्लेख प्रसंगवश हुआ है, पर कहीं भी सांप्रदायिक भावना नहीं है। समस्त काव्यों में महान चरित्रों की सृष्टि हुई है। विश्वप्रेम भावना के साथ साहित्यिक, धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

इस प्रकार जैन संदेश काव्यों की कुछ अनूठी विशेषताएं हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। इसका कारण यह है कि जैन धर्म त्यागपूर्ण जीवन में अधिक विश्वास रखता है। मानव जीवन में अहिंसा, त्याग, तपस्या, सात्विकता तथा सहिष्णुता आदि गुणों का होना अनिवार्य है। अपने काव्यों में जैन आचार्यों ने इन्हीं गुणों के महत्त्व को प्रतिपादित कर संपूर्ण मानव जाति के लिए एक प्रेरणादायक शुभ संदेश प्रेषित किया है जिसके अनुकरण में ही संपूर्ण मानव जाति का कल्याण निहित है। ❖

संदर्भ :

1. डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा : हिंदी साहित्य कोश, भाग I
2. विक्रम कवि : 'नेमिदूत' श्लोक 116
3. विक्रम कवि : 'नेमिदूत'—श्लोक 67,108 ❖❖

जिसका उद्देश्य ऊंचा है, उसे आरामतलबी और हरदिल अज़ीज़ी से खौफ खाना चाहिए।

—इमर्सन

यह तो स्वीकार करना ही होगा कि यदि व्यक्ति को अपने-आप में कुछ बनना है, विकास की ऊंचाइयों को छूना है तो उसे अपने ही पैरों से चलना होगा। स्वयं के प्रकाश से अपने-आप को आलोकित करना होगा और फल-आस्वादन के लिए उसे स्वयं ही अभिक्रम करना होगा। इनके लिए कुछेक आलंबनों की निश्चय ही आवश्यकता है। इन आलंबनों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी विकास यात्रा को सफल बना सकता है।

विकास अभिक्रम के सेतु-पथ

मुनि जयन्तकुमार

हर विकासशील प्राणी अपने नन्हे-नन्हे पांवों से विकास की दूरियों को नापना चाहता है, वहां तक पहुंचना चाहता है। वह विकास के अनंत आकाश को अपनी बांहों में समेटना चाहता है। वह चाहता है—छलांग लगाकर विकास के उत्तुंग शिखर पर चढ़ना। जो भी व्यक्ति इस संसार में जन्मा, उसने किसी-न-किसी रूप में विकास की दिशा की ओर प्रस्थान करने का प्रयत्न किया है। समाज में रहने वाला हर प्राणी विकास की ऊंचाइयों को छूना चाहता है। पर, आज का अहं प्रश्न है कि क्या हर व्यक्ति विकास की अनगिन रेखाओं में अपनी तूलिका से रंग भर सकता है? क्या वह विकास के उस छोर तक पहुंच सकता है, जहां पहुंच जाने पर विकास के लिए कोई अवकाश न रहे?

पहुंचना न पहुंचना—यह बात गौण है, किंतु पुरुषार्थ करना व्यक्ति का अपना कर्तव्य है। विकास की अनेकानेक संभावनाओं से कभी इनकार नहीं किया जा सकता। हर व्यक्ति का उस ओर चलना एक लक्ष्य है। कौन कहां तक पहुंचता है यह दूसरी बात है। मनोविज्ञान में मनुष्य की अनेक मौलिक मनोवृत्तियों का उल्लेख है। उनमें एक मौलिक मनोवृत्ति है—कुछ करने अथवा कुछ होने की महत्त्वाकांक्षा। मनुष्य के पास शक्तिशाली नाड़ीतंत्र है, ग्रंथितंत्र है, मस्तिष्क है, पुरुषार्थ करने की क्षमता है और चिंतन-मनन करने की शक्ति है। ये सब-कुछ हैं तभी उसमें आगे बढ़ने का मनोभाव है।

यदि मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं होता तो संभवतः उसके पास ये सब होते हुए भी वह विकास की भूमिका को आगे नहीं बढ़ा पाता। पशु न तो सामाजिक प्राणी है और न ही उसके पास ग्रंथितंत्र, न शक्तिशाली नाड़ीतंत्र है, न उसमें चिंतन-मनन की शक्ति है। इसलिए वह विकास करने की सोच नहीं रखता है और न ही वह आगे बढ़ सकता है। आदिम युग में भी पशु भार ढोता था और आज भी वह भार ढोता आ रहा है। जैसा पहले था, आज भी वही लक्षण उसमें विद्यमान है।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि यदि व्यक्ति को अपने-आप में कुछ बनना है, विकास की ऊंचाइयों को छूना है तो उसे अपने ही पैरों से चलना होगा। स्वयं के प्रकाश से अपने-आप को आलोकित करना होगा और फल-आस्वादन के लिए उसे स्वयं ही अभिक्रम करना होगा। इनके लिए कुछेक आलंबनों की निश्चय ही आवश्यकता है। इन आलंबनों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी विकास यात्रा को सफल बना सकता है। ये आलंबन निम्नांकित हो सकते हैं—

मानसिक चित्र का निर्माण

विकास के सोपान पर पादन्यास करने के लिए अति आवश्यक है—किसी मानसिक चित्र का निर्माण। विकास की अनेक दिशाएं हैं। हर दिशा में एक ही समय सब ओर जाया जा सके, यह सर्वथा असंभव है। सर्वप्रथम व्यक्ति जो-कुछ बनना चाहता है, या जो-कुछ होना चाहता है—वह मन-ही-मन उसके एक चित्र का निर्माण करे। कल्पनाओं के यान पर चढ़कर कोई व्यक्ति अपनी कार्यसिद्धि नहीं कर सकता। उसे यथार्थता के धरातल पर तो आना ही होता है, पर जब तक हम कल्पना ही नहीं करेंगे तो यथार्थ में बदलने की बात ही कैसे होगी। कई बार

कुछ किशोर आपस में बतियाते हुए एक-दूसरे से पूछते हैं कि किसी का अमेरिका जाने का विचार है, उसमें कितना खर्च होगा? कोई कहता है कि दो लाख रुपए तो कोई कहता है पांच लाख रुपए। कल्पना मात्र से कोई अमेरिका नहीं पहुंच सकता। जब तक कल्पना को मानसिक चित्र का रूप नहीं दिया जाता तब तक वह साकार नहीं हो सकती। कल्पना के अनेक आयाम हो सकते हैं। कोई व्यक्ति बौद्धिक विकास करने का इच्छुक है, तो कोई आध्यात्मिक विकास करने के लिए अग्रसर होना चाहता है। कोई अपने शक्तिबल को बढ़ाना चाहता है, तो कोई सामाजिक क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है। विकास के लिए सर्वप्रथम किसी एक बिंदु का निर्धारण करना आवश्यक है। जो-कुछ आप बनना चाहते हैं—उस का आप एक मानसिक चित्र बना लें। वह मानसिक चित्र ही व्यक्ति को लक्ष्योन्मुखी बनाता है। वह चित्र इतना अधिक स्पष्ट और साफ-साफ हो कि उसमें कहीं किसी प्रकार के कोई संदेह और संशय का अवकाश न हो और भावी का प्रतिबिंब उसमें नजर आए।

ज्ञान

टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बीच छिपे किसी मानसिक चित्र में रंग भरना और उसे उभारना अति कठिन होता है। उसके लिए ज्ञान भी एक महत्त्वपूर्ण आलंबन बनता है। व्यक्ति को गंतव्य स्थल तक पहुंचाने के लिए ज्ञान ही मार्गदर्शक बनता है। ज्ञान वह दीपक है जो व्यक्ति को सही मार्ग दिखाता है और उसे इधर-उधर भटकने से रोकता है। ज्ञान के अभाव में न जाने लोग अपना मार्ग भूलकर कहां-से-कहां भटक जाते हैं। 'मैं कहां हूं'—इसका ज्ञान होना जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है कि 'मुझे कहां होना है?' ज्ञान का फल है—एकाग्रता का विकास करना, अपने-आप को पहचानना और अपने विवेक को जागृत करना और सबसे बड़ा फल है—मूर्च्छित चेतना को जगाकर लक्ष्योन्मुखी होना। सही दिशा में चलने के लिए ज्ञान एक सशक्त साधन है। इस संसार में जितने भी ज्ञानी हुए हैं—उन्होंने अपनी विकास यात्रा का प्रारंभ ज्ञान के आलोक में किया। विकास का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—आगे बढ़ो, पर ज्ञान के साथ बढ़ो। वह विकास विकास नहीं होता जहां ज्ञान का प्रकाश तिरोहित हो जाता है। ज्ञान और विकास—दोनों समानांतर रेखाओं की भांति साथ-साथ चलते हैं। इसलिए लक्ष्य तक पहुंचने के लिए ज्ञान का आलंबन एक महत्त्वपूर्ण साधन बनता है।

आस्था

आस्था जीवन की एक गहरी नींव है। उस नींव पर ही जीवन विकास का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। आस्था के अभाव में यदि जीवन का प्रासाद खड़ा भी किया जाए तो वह अधिक दिन तक टिक नहीं सकता। मनुष्य ने विकास के लिए एक मानसिक चित्र भी बना लिया। उसे ज्ञान का आलंबन भी मिल गया, पर आस्था का निर्माण नहीं हो पाया तो उसका करा-कराया सब धूमिल हो जाएगा। जैसे वायु के थपेड़ों से बालू के कण एक जगह स्थिर नहीं रह सकते उसी प्रकार आस्था के अभाव में विकास की यात्रा भी डावांडोल हो जाती है। वायु का एक झोंका आता है, अस्थिर पदार्थ उसके सहगामी हो जाते हैं। स्थिर पदार्थ कभी उसकी राह का अनुगमन नहीं करते। आस्था का तात्पर्य ही है—स्थिरता का विकास, सुदृढ़ कवच का निर्माण।

आस्था किसके प्रति हो? यह एक प्रश्न है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम आस्था अपने प्रति हो, अपने लक्ष्य के प्रति हो। बाद में वह आस्था किसी के प्रति भी हो सकती है। फिर वह चाहे मंत्र हो, तंत्र हो, स्वयं का गुरु हो या शिष्य हो। आस्था निर्माण में किसी भी प्रकार का कहीं कोई संदेह या विपर्यय का अवकाश नहीं रहना चाहिए। आस्था में सदा समर्पण का भाव छलकता है। जहां समर्पण होता है वहां अनास्था निश्छिद्र हो जाती है। यदि कहीं ऐसा नहीं होता है, तो वहां संशय के छिद्रों से कहीं-न-कहीं से पानी टपक पड़ता है।

आस्था का भाव विकास यात्रा को और अधिक गति देता है। मन-ही-मन जिस चित्र का निर्माण किया, वह सपना आस्था के अभाव में कैसे सफल हो सकता है? दृढ़ आस्था ऐसी लक्ष्मण रेखा है जिसको लांघकर अनास्था का प्रवेश नहीं हो सकता। आस्था के आधार पर अमंत्र भी मंत्र बन जाता है और धूलिकण औषध का काम करते हैं।

पुनः-पुनः अभ्यास.

'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' कवि की यह उक्ति संस्कार निर्माण की एक सुंदर प्रक्रिया है। पुनः-पुनः किया हुआ अभ्यास कभी निष्फल नहीं होता। जो कार्य एक बार करने से सिद्ध नहीं हो तो वह संभवतः दो बार, तीन बार, अथवा सहस्र बार करने से सिद्ध हो सकता है। अभ्यास न करने का एक मुख्य बाधक तत्त्व है—चित्त की चंचलता। सामान्यतः मनुष्य की नैसर्गिक मनोवृत्ति है कि वह किसी एक कार्यबिंदु पर केंद्रित होना नहीं जानता। कोई एक कार्य वह प्रारंभ करता है, किंतु दूसरे ही क्षण चित्त विक्षेप के कारण अपने कार्य को बदल लेता है, अन्यान्य अनेक कार्यों को करने में तत्पर हो जाता है। मस्तिष्क में

उत्पन्न होने वाली विचार तरंगें मनुष्य के दिल-दिमाग और कार्य को भी बदल देती हैं। इसलिए वह किसी एक कार्य पर स्थिर नहीं रह पाता। कार्य की सिद्धि के लिए संकल्प के साथ पुनः-पुनः अभ्यास करने की आवश्यकता है। अभ्यास न करने का एक अन्य कारण है—निराशा का भाव अथवा निषेधात्मक भाव। जब मन में निराशा टपकती है तो वहां कार्य करने की आशा भी क्षीण हो जाती है। बीज बोने से पहले ही मनुष्य उसके फल में संदेह करने लग जाता है। एक कदम चला नहीं, उससे पहले ही मंजिल न पाने की निराशा व्यक्ति को हतोत्साहित कर देती है। इसलिए नीतिकारों ने कहा—'तुम्हें केवल कर्म करने का अधिकार है, उसके फल का हेतु तुम नहीं हो।' फल का अनुबंध कार्य के साथ जुड़ा हुआ है। यदि कार्य की सिद्धि होती है तो फल स्वतः ही मनुष्य को मिल जाएगा। अभ्यास के लिए पुनरावर्तन की आवश्यकता है। जब बार-बार किसी कार्य का अभ्यास होता है तो वहां निर्माण होता है—एक संस्कार का। अपने-आप में कुछ बनने के लिए या कुछ होने से पहले व्यक्ति एक शब्दावली को तैयार करे। कायोत्सर्ग की मुद्रा में दृढ़निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ पुनः-पुनः उसका उच्चारण करे और अनुभव करे कि मेरे भीतर अनंत शक्ति का स्रोत बह रहा है। मैं उसमें अभिस्नात होकर अपनी शक्ति का संवर्धन कर रहा हूं। 'मैं जो-कुछ होना चाहता हूं' उसे साक्षात् यथार्थता के धरातल पर अवतरित कर रहा हूं।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ एक ऐसी ऊर्जा है जिसके द्वारा मनुष्य सदैव गतिशील बना रहता है। पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति ने क्या कुछ नहीं किया? पुरुषार्थ की छेनी से उसने बड़े-बड़े पहाड़ों को विदारित किया, अनगढ़ पत्थर को तराश कर उसे सुंदर प्रभावी प्रतिमा का आकार दे दिया और पुरुषार्थ के दीवट पर अपने भाग्य के दीपक को प्रज्वलित किया। पुरुषार्थ की शक्ति प्रत्येक मनुष्य में निहित है, पर उसको अपने काम में लेने वाले विरल हैं। जिसमें पुरुषार्थ का अभाव होता है—उसकी मनुष्य तो क्या, देवता भी सहायता नहीं करते। शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के द्वारा हमेशा प्रताड़ित होता है। निर्बल मानकर उसे सदा पैरों के तले रौंदा जाता है और अपने स्वार्थ के लिए उसका शोषण किया जाता है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जिसने बिना पुरुषार्थ के अपने लक्ष्य को पाया हो। वास्तव में सफलता का राज पुरुषार्थ में ही छिपा हुआ है। जिसने यत्किंचित् पुरुषार्थ किया, उसने बहुत-कुछ पाया और जो बिना पुरुषार्थ के रहा—वह सदा अभागा का अभागा ही रहा। पुरुषार्थ का नियोजन ध्वंसात्मक कार्यों में भी हो सकता है और निर्माणात्मक कार्यों में भी। यदि मनुष्य विकास की ओर बढ़ना चाहता है, ऊंचाइयों को छूना चाहता है तो उसका पुरुषार्थ भी रचनात्मक कार्यों में नियोजित होगा।

मनुष्य अनंत शक्ति का पुतला है। उसे अपनी शक्ति को जगाने की आवश्यकता है। यदि व्यक्ति अप्रमत्तता का जरा भी विकास कर लेता है तो पुरुषार्थ निश्चित ही उसका सहचारी बनकर उसकी उपासना करेगा। पुरुषार्थ पर व्यक्ति का अपना निजी अधिकार भी है। वह उसका कहीं और कभी भी प्रयोग कर सकता है। वह कभी निष्फल नहीं हो सकता। जरूरत है मनुष्य को जागरूक बनने की तथा अपने भीतर की ओर झांकने की। वही पुरुषार्थ व्यक्ति को सिद्धि तक ले जाएगा, सफलता की दस्तक देगा। अतः विकास के नव-नव आयामों के उद्घाटन के लिए तथा विकासोन्मुखी बनने के लिए व्यक्ति अपने पुरुषार्थ की लौ को होत्राग्नि की भांति कभी बुझने न दे।

धृति

किसी चिंतक ने कहा—'तब तक अविराम गति से चलते रहो जब तक मंजिल न आ जाए और तब तक जलते रहो जब तक तिमिर का नामोनिशान न मिट जाए।' आज के मनुष्य में इतनी धृति कहां है? सफलता की सिद्धि के लिए धृति की आवश्यकता होती है। ऐसा कभी नहीं होता कि आज ही बीज का वपन किया और चंद क्षणों में ही वह पल्लवित, पुष्पित और फलित हो जाए। आज ही किसी कार्य को प्रारंभ किया और उसकी निष्पत्ति भी आज ही हाथ लग जाए। यह कोई चमत्कार नहीं हो सकता और न ही कोई वह चक्रवर्ती की रिद्धि-सिद्धि हो सकती है, जैसा चाहा वैसा हो गया। फल प्राप्ति के लिए व्यक्ति को धैर्यपूर्वक कुछ प्रतीक्षा करनी होती है। यद्यपि प्रतीक्षा की घड़ियां मनुष्य के लिए असह्य होती हैं। वह हर कार्य की सिद्धि का वरण जल्दी-से-जल्दी करना चाहता है। धृति मन का नियमन करने वाली ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति को सफलता के बिंदु तक पहुंचाती है। धृति के अभाव में मनुष्य क्या-कुछ नहीं करता? वह किसी एक कार्य को प्रारंभ करता है, वह पूरा भी नहीं होता—उससे पूर्व ही वह किसी दूसरे कार्य को प्रारंभ कर देता है। इस प्रकार एक साथ वह कितने कार्य प्रारंभ कर देता है। पर सफलता उसे कहीं से नहीं मिलती। यह अधीरता ही उसकी निराशा का कारण बनती है, असंतुलन का कारण बनती है। धृतिमान व्यक्तियों ने पुनः-पुनः इसी बात को दोहराया कि तब तक प्रयत्न करते रहो

जब तक चलनी का पानी बर्फ न हो जाए, साधन सिद्धि न बन जाए। सफलता के शिखर को छूने के लिए मनुष्य को सघन प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसके लिए व्यक्ति-व्यक्ति को प्रतिकूलताओं से मुकाबला करना होगा, संघर्षों को झेलना होगा और अपने सब्र के बांध को तब तक स्थिर करना होगा जब तक उसे लक्ष्य प्राप्त न हो जाए। वह व्यक्ति दुनिया का महान व्यक्ति बन गया जिसने धैर्य का आलंबन लेकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया। अतः धृति सफलता का एक महान सूत्र है।

आत्मविश्वास

व्यवहार जगत का यह आश्चर्य है कि व्यक्ति दूसरों पर अधिक विश्वास करता है, स्वयं पर विश्वास कम होता है। जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं—जब व्यक्ति अपने आत्मविश्वास की कमी के कारण अपने विकास की गति को मंद कर लेता है। मैं जो कार्य कर रहा हूं, उसमें मुझे सफलता मिलेगी या नहीं, यह संशय ही व्यक्ति की असफलता का सबसे बड़ा कारण बनता है। कार्य की संपूर्णता से पूर्व ही किसी अनिष्ट की संभावना करना आत्मविश्वास की कमी को दर्शाता है। जब स्वयं के विश्वास का दीपक स्वयं को ही आलोकित नहीं करता तो वह दूसरों को कैसे आलोकित कर पाएगा?

मैं मर जाऊंगा, किंतु कार्यसिद्धि के अपने प्रयासों को नहीं छोड़ूंगा—यह भीष्म प्रतिज्ञा ही आत्मविश्वास को उजागर कर सकती है। एक युवक नौसेना में भर्ती होने वाला था। उसका इंटरव्यू लेते हुए सेना के अधिकारी ने पूछा—युवक! तुम समुद्र में जहाज चला रहे हो। यदि उस समय समुद्र के बीच तूफान आ जाए तो तुम क्या करोगे? तत्काल उसने उत्तर दिया—सर! मैं लंगर डाल दूंगा। पुनः अधिकारी ने पूछा—यदि फिर तूफान आ जाए तो? पुनः युवक का वही उत्तर था—सर! मैं लंगर डाल दूंगा। जितनी बार भी युवक से वह प्रश्न पूछा गया अधिकारी को उसका वही घड़ा-घड़ाया उत्तर मिला। अधिकारी ने हंसते हुए कहा—युवक! इतने लंगर तुम कहां से लाओगे? युवक ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ कहा—महाशय! जहां से तूफान आएंगे, लंगर भी वहीं से आ जाएंगे। युवक का वह आत्मविश्वास अधिकारी को आश्चर्य में डालने वाला था। जीवन की हर समस्या का समाधान आत्मविश्वास की भूमिका में ही खोजा जा सकता है। आत्मविश्वास की लौ से ही पुरुषार्थ का दीपक जला करता है। जो व्यक्ति सफलता की सिद्धि तक पहुंचना चाहता है, उसे संकल्प-शक्ति के द्वारा आत्मविश्वास को जगाना होगा। अपने आत्मविश्वास को परिपुष्ट करने के लिए संकल्प का पुनः-पुनः अभ्यास करना होगा। जिस व्यक्ति का आत्मविश्वास पुष्ट, परिपुष्ट होता है वही व्यक्ति सफलता की सिद्धि तक पहुंच सकता है।

स्वदर्शन

दूसरों को देखना व्यक्ति का चिर स्वभाव है। वह दूसरों की कमियों और दुर्बलताओं की ओर सदैव दृष्टिपात करता रहता है। स्वयं की ओर कभी नहीं देखता। जहां स्वयं की कमियों और दुर्बलताओं को देखने का प्रश्न आता है, वहां व्यक्ति अपने-आप में मौन हो जाता है। अपने ही दर्पण में अपने-आप को देखना, अपने जीवन की पोथी को अपने-आप पढ़ना ही सफलता को प्राप्त करने का अमोघ साधन है। मनुष्य के भीतर अच्छाई और बुराई दोनों विद्यमान हैं। दूसरा व्यक्ति हमें किस दृष्टि से देखता है, हमारा अंकन किस प्रकार करता है, यह पैरामीटर वास्तव में यथार्थता का सूचक नहीं हो सकता। कभी-कभी वह गलत भी सिद्ध हो जाता है। हम कैसे हैं? इसका मानदंड हम स्वयं ही बन सकते हैं। इसलिए अच्छा है कि व्यक्ति स्वयं के द्वारा स्वयं का निरीक्षण करे और अपनी कमियों, दुर्बलताओं का अंकन करे। कमियों और दुर्बलताओं को देखने का तात्पर्य यही है कि उन-उन कमियों और दुर्बलताओं के निराकरण का साधन खोजना। एक बार अकबर ने बीरबल से पूछा—'तुम इतने बुद्धिमान कैसे बने?' बीरबल ने बड़ा ही मार्मिक उत्तर देते हुए कहा—'जहांपनाह! संसार में मूर्खता के जितने कार्य थे उन कार्यों को मैं छोड़ता गया।' स्वयं का निरीक्षण स्वयं की दुर्बलताओं पर सीधा प्रहार करता है और उसमें रूपांतरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। जब तक स्वदर्शन नहीं होगा तब तक परमात्म-दर्शन भी नहीं हो सकता। इसलिए आत्मदर्शन एक ऐसी प्रक्रिया है जो दुर्बलताओं के सघन कुहासे को दूर करती है और सफलता के बिंदु तक पहुंचाती है। इसलिए आत्मदर्शन भी सफलता का एक सशक्त आलंबन है।

ये जीवन-विकास के कुछेक ऐसे बिंदु हैं जिनको मिलाने पर व्यक्तित्व-विकास की एक रूपरेखा निर्मित की जा सकती है। यदि ऐसा होता है तो उसकी फलश्रुति होगी—■ स्वयं के द्वारा स्वयं का प्रस्थान। ■ लक्ष्योन्मुखी बनने का अभियान। ■ अपने भाग्य का अपने हाथों निर्माण।

❖

वनस्पति में भी जीवित प्राणी के समान अनुभूति है—क्रोध, संग्रह, लोभ, कपट आदि की संवेदनाएं हैं। वह भी रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा उन्हें व्यक्त करती है, जिसे मापक यंत्रों से मापा जा सकता है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मृत्यु से सब को भय लगता है। सब कल्याण चाहते हैं। शोषण, आक्रमण, उपद्रवण, उपतापन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। जिस व्यक्ति का मानस इस आत्मानुभूति की भावना से अनुप्राणित हो जाता है, वह स्थावर और अव्यक्त चेतना वाले जीवों के प्रति भी अनिष्ट चिंतन नहीं कर सकता, बुरा नहीं सोच सकता। वह व्यक्त चेतना वाले चलते-फिरते प्राणियों को कष्ट कैसे दे सकता है?

साधना अमृतसिद्धि योग की

साध्वी श्रुतयशा

प्राचीन काल की बात है, एक राजा अपने स्नानागार में स्वर्णिम मणिपीठ पर बैठा था। कहार उसके स्नान के लिए जल लाया। राजा ने ज्योंही स्नान प्रारंभ किया, वह चौंक गया। तत्काल प्रश्न किया, 'पानी कौन लाया था?' कहार उपस्थित हुआ। उसने विनम्र स्वरों में निवेदन किया, 'आज मेरी पुत्रवधू पानी के लिए गई थी।' कहार की पुत्रवधू को बुलाया गया। पूछने पर उसने निवेदन किया, 'राजन्! यह पानी मैं यहां से दो 'कोस' दूरी पर स्थित कुएं से लाई हूं।' राजा ने पुनः जानकारी चाही, 'क्या इसमें कोई गंधद्रव्य मिलाया जाता है?' उत्तर मिला, 'इस कुएं का जल ही पिछले दो महीनों से ऐसा हो गया है।'

बताया गया—'आजकल कुएं की पाल पर एक संन्यासी आए हुए हैं। हो सकता है, उनकी साधना का ही कोई चमत्कार हो कि कुएं के जल के सारे गुणधर्म विशिष्ट हो गए हों। आजकल यह जल ओषधितुल्य हो गया है। इसका स्वाद अमृत जैसा प्रतीत होता है और इससे निकलने वाली अपूर्व सुरभि रोम-रोम को तृप्ति देने वाली है। महाराज! इतना ही नहीं, कुएं के आस-पास का वातावरण भी पूरी तरह से परिवर्तित हो गया है।' संपूर्ण जानकारी पा कर राजा को आश्चर्य हुआ। राजा स्वयं कुएं पर गया।

राजा ने देखा—एक दिव्य संन्यासी पाल पर बैठा है। भव्य ललाट, तेजस्वी नेत्रकमल, निर्मल आभामंडल, शांत मुखमुद्रा। सामान्य कुशलक्षेम के पश्चात् राजा ने कुएं के जल के विषय में जिज्ञासा की। संन्यासी बोले, 'राजन्! यह कोई चमत्कार नहीं है। यह अमृतसिद्धि योग का सामान्य प्रभाव है।' राजा ने पुनः जिज्ञासा की, 'महामना! यह कौन-सी सिद्धि है, कृपाकर विस्तार से बताएं।'

संन्यासी ने बताया, 'अमृतयोग वस्तुतः जीवमात्र के कल्याण की कामना है। लोक में अवस्थित प्रत्येक प्राणी मेरा मित्र है, शत्रु कोई भी नहीं। किसी का भी अनिष्ट-चिंतन नहीं करना, सर्वभूत जीव-सत्त्व के प्रति मंगलभावना से अपने कण-कण को अनुप्राणित करना, चलते, फिरते, सोते, जागते—हर क्रिया में, हर क्षण में जीवमात्र की उन्नति का भाव जागृत रहे—यही है अमृतयोग। इसकी साधना से साधक का कण-कण सुवासित हो जाता है। उसकी सांस के सितार पर जब 'सर्वे ते प्रियबांधवा, नहि रिपुरिह कोपि।' का अनहद नाद बजने लगता है, तब उसका अणु-अणु इतना प्रभावी हो जाता है कि उसका परिपार्श्व स्वतः ही उससे प्रभावित हो जाता है। जो वायु उसके शरीर को छूती है, वह शीतल, सुखद और सुगंधित हो जाती है। जो जल उसके शरीर को छू जाता है वह अमृततुल्य हो जाता है। उसका दृष्टिक्षेप मात्र ही अनेक रोगों का शामक होता है। राजन्! तुम्हें आज कुएं के जल में जो अपूर्व परिवर्तन प्रतीत हुआ, उसका भी यही कारण है।'

संन्यासी की साधनापूत वाणी राजा के कानों को अमृत जैसी लग रही थी। उसका हृदय प्रणत था। उसे एक नव्य अनुभव का आलोक मिला था।

अमृतसिद्धि योग वस्तुतः अहिंसा-चेतना एवं मैत्री

का प्रकृष्ट प्रयोग ही है। लोक का कण-कण जीवों से अनुप्राणित है। खानों से निकलने वाले खनिज पदार्थ—सोना, तांबा, जस्ता आदि धातुएं सजीव हैं। उनमें भी चेतना है, अनुभव करने की शक्ति है। पृथ्वी का बेजा दोहन हिंसा है, करुणा और संवेदना का अभाव है। इसी प्रकार जल की बूंद भी जीवित प्राणियों का-सा शरीर है। अग्नि और वायु भी सचेतन हैं। वनस्पति में भी जीवित प्राणी के समान अनुभूति है—क्रोध, संग्रह, लोभ, कपट आदि की संवेदनाएं हैं। वह भी रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा उन्हें व्यक्त करती है, जिसे मापक यंत्रों से मापा जा सकता है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मृत्यु से सब को भय लगता है। सब कल्याण चाहते हैं। शोषण, आक्रमण, उपद्रवण, उपतापन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। जिस व्यक्ति का मानस इस आत्मानुभूति की भावना से अनुप्राणित हो जाता है, वह स्थावर और अव्यक्त चेतना वाले जीवों के प्रति भी अनिष्ट चिंतन नहीं कर सकता, बुरा नहीं सोच सकता। वह व्यक्त चेतना वाले चलते-फिरते प्राणियों को कष्ट कैसे दे सकता है?

जैन दर्शन के अनुसार यह संसार अनादि-अनंत है। इस अनंत 'संसरण चक्र' में कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई ऐसा कुल नहीं, कोई ऐसे जाति-गोत्र नहीं—जहां प्राणी अनेकशः उत्पन्न नहीं हुआ हो, मरा नहीं हो। संसार में परिभ्रांत भिन्न-भिन्न प्राणियों के साथ भिन्न-भिन्न कालखंडों एवं क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न संबंध हुए हैं। कभी कोई माता बना है, कभी कोई पुत्र, कभी कोई पुत्री बनी है, कभी कोई पिता। अनादि काल से चले आ रहे इस विचित्र संबंध वाले जगत को देखते हुए ऐसा कोई भी प्राणी नहीं, जो हमारा आत्मीय नहीं, कुटुंबी नहीं या स्वजन नहीं। जैसे-जैसे स्व का विस्तार होता जाता है—विश्वबंधुत्व के भाव प्रगाढ़ एवं स्थिर होते जाते हैं। इसी के साथ द्वेष और राग से उभरने वाले छोटे-छोटे घरौंदे ढह जाते हैं। सब जीवों के प्रति तब मैत्री का अजेय प्रासाद खड़ा हो जाता है।

प्राचीन जैन साहित्य में अर्हतों के अनेक अतिशयों का उल्लेख मिलता है। माना जाता है कि अर्हतों की श्वास से श्रेष्ठ पुष्प की-सी सुगंध आती है, उनका शरीर अत्यंत निर्मल परमाणुओं से बना होता है। उनके आभामंडल से पारिपार्श्विक वातावरण इतना प्रभावित हो जाता है कि आजन्म वैर-भाव को छोड़कर सिंह-बकरी, सर्प-नेवला, कुक्कुट-मार्जार आदि प्राणी बंधुवत् साथ-साथ बैठ जाते हैं। वहां की वायु का स्पर्श इतना ओषधिमय हो जाता है कि आस-पास के कई क्षेत्रों के पुराने रोग नष्ट हो जाते हैं, नवीन रोग पैदा नहीं होते। जहां तीर्थंकरों का समवसरण होता है, वहां हिंसा, आतंक, आक्रमण और प्रत्याक्रमण नहीं होते। यह सारा उनकी वीतराग चेतना का प्रभाव है। समस्त जीव-जगत के प्रति उभरने वाले मैत्रीभाव का परिणाम है। यह उनकी अमृतमय सन्निधि का फल है।

आज वैज्ञानिक शोधों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि 'अल्सर', 'कैंसर', 'एसीडीटी', तनाव आदि मनोकायिक बीमारियों का ग्राफ काफी ऊंचा हो गया है। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसका मुख्य कारण है—शरीर में होने वाले रासायनिक स्रावों का असंतुलन और कमजोर प्रतिरोधात्मक क्षमता। मानव-मन पर तरंगायमान राग-द्वेष के भाव, ईर्ष्या एवं प्रतिशोध के विचार, ईंट का जवाब पत्थर से देने की सोच, पर-दोष दर्शन तथा चुगली की तुच्छ क्रियाएं निरंतर उसके भावजगत पर आक्रमण करती रहती हैं। 'जैसा भाव—वैसा स्राव'—निरंतर पैदा होने वाले निषेधात्मक चिंतन से मनुष्य के ग्रंथितंत्रीय स्राव प्रभावित होते हैं। 'पिच्यूटरी' निष्क्रिय एवं 'एड्रीनल' अधिक सक्रिय होने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य न चाहते हुए भी गलत आचरण कर बैठता है। यह अस्त-व्यस्तता उसके श्वेत रक्त-कणों को प्रभावित करती है। वैज्ञानिकों के अनुसार एक बार क्रोधपूर्ण चिंतन से लाखों श्वेत रक्त-कणिकाएं नष्ट हो जाती हैं। फलतः विविध ओषधियों का सेवन तथा विविध शक्तिवर्धक रसायनों का प्रयोग करके भी वह स्वस्थ एवं शक्ति-संपन्न नहीं बन पाता।

आज अपेक्षा है, मानव भावशुद्धि की ओर प्रयासरत बने। वस्तुतः यही अमृतसिद्धि योग है। अहिंसा, चेतना, मैत्री और लोक के कण-कण के प्रति संवेदनशील होना ही अमृतसिद्धि योग की साधना है। ❖

माया के परे जाने का यत्न कौन करता है? जीव। तत्त्वतः जीव भी ब्रह्म ही है। अविद्या के कारण, जो कि माया का ही व्यक्तिपरक रूप है, वह किसी देह को ही अपनी सत्ता मान संसार के चक्र में पड़कर भटकता रहता है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के जो आवरण जीव पर चढ़े रहते हैं, माया के द्वारा ही प्रसूत होते हैं।

—'शंकर का दर्शन' **(ले. टी.एम.पी. महादेवन)** से

कहानी

यकीन की शक्ल भी लेकिन यकीन की तरह नहीं, शक की तरह थी। जो बार-बार कान में फुसफुसाता था कि मान लो कि सचमुच ऐसा हो गया हो, अली सचमुच एक चिड़िया में बदल गया हो, तब...तब क्या होगा? नहीं होने के शक पर, होने का शक भारी था। जिससे ज्यादा नुकसान हो सकता हो वह शक हमेशा भारी होता है।

मैं हवा पानी परिंदा कुछ नहीं...

राजेश जोशी

दोपहर कबूतर के पंख की तरह थी। सुरमई, मुलायम और बहुत हल्की। इतनी हल्की कि किसी का भी मन उड़ने को कर सकता था। अली अपनी लिखने की मेज के सामने बैठा कुछ सोच रहा था तभी उसके बदन में अजीब कंपकंपी-सी हुई और देखते-ही-देखते वो एक चिड़िया में बदल गया। पहले वो चकराया। गर्दन घुमा-घुमाकर अपने को देखा। अपनी कुर्सी से वो थोड़ा-सा उड़ा और फुदककर मेज पर रखी एक मोटी-सी किताब पर जा बैठा। गर्दन झुकाकर उसने किताब को देखा। यह उसकी आत्मकथा थी जो अभी कुछ दिन पहले ही छपकर आई थी। किताब से उड़कर वो आईने के सामने गया और बहुत देर तक अपने को देखता रहा। उसने महसूस किया कि अचानक ही उसकी आंखें और कान बहुत तेज हो गए हैं। वो पूरी तौर पर एक चिड़िया बन चुका था। अब वो इस कमरे में नहीं रह सकता था। उसे बाहर जाना ही था। जहां गुलेलें थीं। जाल थे। तीरकमान थे और बंदूकें थीं। उसे याद आया कि पक्षीविज्ञानी बनने से पहले उसने कई चिड़ों को एक ही दिन में पत्थर से मार गिराया था। इस घटना की याद आते ही अली के बदन में एक फुरफुरी-सी हुई। वो उड़कर खिड़की के पल्ले पर बैठा, आसपास नजर दौड़ाई और फिर उड़ान भर दी।

अली का चिड़िया में बदलना जितना अचानक लगता था, उतना अचानक था नहीं। सरीसृपों की बिरादरी से चिड़िया के जन्म की दास्तान तो लोगबाग जानते थे, पर मनुष्य के चिड़िया बन जाने की यह पहली घटना थी। पिछले काफी दिनों से अली का बदन सिकुड़ता जा रहा था। दिनोदिन उसका वजन कम हो रहा था। अभी कुछ दिन पहले ही सईद आया था। सईद अली के बचपन का दोस्त था। सईद ने कहा था कि अली, तुम्हारा चेहरा दिनोदिन चिड़ियों की तरह छोटा और चोंचदार होता जा रहा है। अली ने उसे मजाक की तरह लिया और यह कहकर कि सोहबत का असर तो होता ही है, ठहाका लगाया था। अली को आज लग रहा था कि सईद ने शायद पहले ही इस बदलाव को ताड़ लिया था। अली ने एक लंबी-सी उड़ान भरी। उसे बस एक ही बात की तसल्ली थी कि वो चिड़ियों की तरह भी बोल सकता था और मनुष्यों की तरह भी। बदलते-बदलते भी उसका दिमाग और बोलने की कूवत बची रह गई थी।

लंबी उड़ान के बाद अली का मन हल्का हो गया था। सुस्ताने को वो एक पेड़ की डाल पर जा बैठा। उस समय उस पेड़ पर कोई चिड़िया नहीं थी। उसने राहत की सांस ली। इसी समय उसने बीट की और उसे अचानक ध्यान आया कि वो एकदम नंगा है। पहले वो झेंपा, फिर उसे खयाल आया कि अब वो मनुष्य नहीं, एक चिड़िया है और कोई चिड़िया कभी कपड़े नहीं पहनती। चिड़िया तो कपास के पेड़ पर भी नहीं जाती। वो मन-ही-मन मुस्कराया। पहले जब वो मुस्कराता था तो उसके छोटे-से चेहरे की झुर्रियां हल्के-से कांपती थीं। अब यह संभव नहीं था। एक ही दिक्कत थी कि उसके हाथ पंखों में बदल गए थे। उनमें कलम नहीं पकड़ी जा सकती थी। किताब के पन्ने नहीं पलटे जा सकते थे। और सिगरेट...सिगरेट का खयाल आते ही उसे लगा कि चिड़िया बनने के बाद से उसे एक बार भी सिगरेट की तलब नहीं लगी थी। वो सोच रहा था कि जब जंगल की चिड़ियों से वो हिल-मिल जाएगा तो उनसे उन्हीं की बोली में बातें कर सकेगा। वो जानना चाहता था कि अध्ययन के दौरान वो जिन निष्कर्षों पर पहुंचा था, वे कितने सही और कितने गलत थे। उसने सोचा कि नई जानकारियों

के आधार पर वो अपनी तमाम किताबों को ठीक-ठाक करेगा। वो जितना सोच रहा था उतना ही परेशान हो रहा था।

अली चिड़िया तो बन गया था, लेकिन वह दिखने में और चिड़ियों से थोड़ा अलग था। धरती पर पाई जाने वाली चिड़ियों की आठ-साढ़े आठ हजार जातियों की बनक से उसकी बनक अलग थी। शाम हो रही थी। दूसरी चिड़ियां वापस लौट रही थीं। चिड़ियां एक नजर अली को देखतीं और कतराकर निकल जातीं। उनकी आंखों में आश्चर्य भी था और संशय भी। उन्होंने आपस में कहा—लगता है कहीं दूर देश से उड़कर आई है। लगता है भटक गई है। अली यह सुन मन-ही-मन मुस्कराया। एक बार सोचा कि इन्हें बता दूं। पर डर था। उसकी बात पर कौन भरोसा करता! उसने सोचा, इंसानों की बिरादरी से तो पहले ही बाहर हो गया हूं, अब हकीकत बताने जाऊं तो कहीं पंछियों की बिरादरी से भी बाहर न कर दिया जाऊं। वो चुप लगा गया। इसी समय पास की डाल पर एक फुलचुक्की दिखी। यह टिकेल फुलचुक्की है, उसने मन-ही-मन में कहा। यह चिड़िया उसे बहुत पसंद थी। सुंदर रंगबिरंगी चिड़ियों में उसे शकरखोरा भी बहुत पसंद था। फुलचुक्की पहले तो थोड़ी घबराई, लेकिन फिर वो अली से बतियाने लगी। अध्ययन के दौरान अली ने जो-कुछ इस चिड़िया के बारे में जाना था, वही सब उसने कह सुनाया। अंगूठे के बराबर वह छोटी-सी चिड़िया थोड़ी देर तो आंखें मटकाकर सुनती रही, फिर अचानक जोर-जोर से हंसने लगी। इसमें हंसने की क्या बात है? अली ने उससे पूछा। पर वह तो हंसती रही। जब हंसी थमी तो उसने अली को अपने बारे में बहुत-सारी ऐसी बातें बताईं, जो अली नहीं जानता था। अली चकरा गया। इत्ती-सी चिड़िया का इतना बड़ा जंजाल। उसे तमाम किताबें अधूरी लग रही थीं। काश! उसने मन-ही-मन कहा और एक लंबी सांस लेकर चुप हो गया।

अली एक बार लिखने-पढ़ने वाले कमरे में जाना चाहता था। कई दिन हो चुके थे, वह वहां नहीं गया था। उसे घर की याद आ रही थी। गनीमत थी कि कमरे की खिड़की खुली हुई थी। खिड़की से वो कमरे में आया। कमरा उसकी अनुपस्थिति में साफ-सूफ कर दिया गया था। किताबें करीने से रैक में सजी थीं। बचपन से चिड़िया बनने तक कभी उसका कमरा साफ-सुथरा नहीं रह पाया। बचपन में इस बात को लेकर वो अक्सर मां की डांट खाता और शादी के बाद बीवी के ताने सुनता। कमरा इधर साफ किया जाता और उधर उसका बिखरना शुरू हो जाता। देखते-ही-देखते एक के बाद एक किताबें निकलती जातीं। अखबारी कतरनों, कागजों और घूम-घूमकर खींचे अलग-अलग पक्षियों के फोटोग्राफ्स का ढेर लगता जाता। पहले टेबिल भर जाती। फिर बिस्तर और अंत में जमीन पर ढेर लगने लगते। इस चक्कर में कई-कई दिनों तक कमरे में झाड़ू भी नहीं लग पाती।

पक्षियों का पीछा करने का शौक अली को बचपन से ही लग गया था। बचपन में सबको लगता कि अभी छोटा है। बचपन में हर किसी को परिंदे अच्छे लगते हैं। सच पूछो तो बचपन में हर उड़ने वाली चीज अच्छी लगती है। चिड़िया हो, पतंग हो, गैस के गुब्बारे हों या हवाई जहाज। अली के अब्बू और अम्मी को भी लगता कि लड़का जब बड़ा होगा तो सब ठीक हो जाएगा। पर ऐसा हुआ नहीं। अली जैसे-जैसे बड़ा होता गया उसका जुनून भी बढ़ता गया। घरवालों को रात-दिन यही फिकर लगी रहती कि पता नहीं, इस लड़के का क्या होगा। मारा-पीटा, समझाया-बुझाया। डाक्टर की सलाह पर मनोचिकित्सकों को भी दिखा दिया। पर कोई फायदा नहीं हुआ। स्कूल के बच्चे भी उसे सनकी समझते। कई बार ऐसा होता कि मैदान में बच्चों के साथ खेलते-खेलते अचानक अली को कोई चिड़िया दिख जाती और वो बच्चों और खेल को छोड़कर चिड़िया का पीछा करता दूर निकल जाता। यह पागलपन धीरे-धीरे सारी हदें पार कर गया। स्कूल से घर को निकला अली जंगलों की तरफ चला जाता और कई-कई दिनों तक उसका पता नहीं चलता। जेब में पैसे भी नहीं होते। भूखा-प्यासा न जाने कहां-कहां भटकता रहता।

अली उन दिनों चिड़ियों के बारे में ही सोचता, उन्हीं के बारे में पढ़ता, उन्हीं का पीछा करता और जब-तब उन्हीं के बारे में नोट्स लेता रहता। उसके नोट्स से कई मोटी-मोटी कापियां भर गई थीं। सईद उसका अकेला दोस्त था। सईद के पिता वहीद मियां को भी परिंदों के बारे में पढ़ने का शौक था। वहीद मियां ने बताया था कि स्कूल के दिनों में उन्होंने आर्निथोलाजिस्ट बनने का सपना देखा था, लेकिन उनके घर वालों ने उड़ान से पहले ही उनके पर कतर दिए थे। सीने में एक अधूरी इच्छा दबी रह गई थी। जो अब परिंदों के बारे में नई किताबें पढ़ने तक महदूद हो गई थी। अली में उन्हें अपनी अधूरी इच्छा पूरी होती दिखती थी। इसलिए वहीद मियां अली के लिए नई-से-नई और पुरानी-से-पुरानी किताबें इकट्ठी करने लगे थे। शुरुआती दिनों में उन्होंने अली को थामसन की 'बायोलाजी आफ बर्ड्स' पढ़ने

को दी थी। यह एक दुर्लभ किताब थी। इस किताब ने अली पर जादू-सा असर किया था। इसके बाद तो अली ने वहीद मियां की लाइब्रेरी में रखे सालिम अली और डिल्लन रिप्ले की 'हैण्ड बुक ऑफ दी बर्ड्स ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान' के दसों खंड चाट डाले थे। इन दोनों मुल्कों के आदमियों के बारे में भी कोई इतना नहीं जानता होगा जितना अली वहां के परिंदों के बारे में जानता था। गनीमत थी कि परिंदों में कोई सियासी झगड़ा नहीं था। सईद को परिंदों के बारे में जानने का कोई शौक नहीं था। लेकिन अली जब किसी खास परिंदे के बारे में बताने लगता तो सईद बहुत गौर से सुनता। उसका कहना था कि अली जब परिंदों के बारे में बोलता है तो वो खुद भी एक परिंदे जैसा ही लगने लगता है—भोला और खूबसूरत।

अली अभी टेबिल पर बैठा पुरानी यादों में खोया हुआ था तभी उसकी बीवी अंदर दाखिल हुई। उसने अपने खाविंद की किताब पर चिड़िया को बैठे देखा तो हुश-हुश करके उसे उड़ाने लगी। अली कुछ देर इधर-उधर उड़-उड़ कर बीवी को छकाता रहा। फिर उसने बदन को झटकारा और कुछ छोटे पंख यहां-वहां गिरा दिए। बीवी झुंझलाकर बड़बड़ाने लगी—कितनी बार मियां से कहा है कि इस खिड़की में जाली लगवा दो...यहां से गौरैयां अंदर आ जाती हैं...पंखे के ऊपर घोंसला बना लेती हैं...सारे कमरे में कचरा करती हैं...पर मियां को तो लगता है ये ही उनकी असल रिश्तेदार हैं...उनका बस चले तो इन मुंहजलियों के लिए अपनी बीवी को तलाक दे दें...बीवी बड़बड़ा रही थी और अली अल्मारी के ऊपर बैठे मजे ले रहा था। बीवी ने झाड़ू उठाई और अली के पीछे लपकी। अली उड़कर खिड़की से बाहर निकल गया। अली मन-ही-मन मुस्करा रहा था। चाहता तो अपनी आवाज में बोलकर बीवी को चौंका सकता था। पर उसे लगा—फिजूल में अभी रोना-धोना मच जाएगा। लोगों को लगता है—आदमी या तो धरती पर रहे या सीधा जन्नत में चला जाए...जमीन और जन्नत के बीच किसी तीसरी जगह का कोई तसव्वुर लोगों के पास नहीं था। जहन्नुम अगर कहीं था तो वह या तो जमीन पर ही था या जन्नत के बगल वाले फ्लैट में था। अली चुपचाप निकल गया।

खिड़की बंद करके अभी अली की बीवी पलटी ही थी कि उसे लगा उसका मन उसी चिड़िया में अटका रह गया है। वो चिड़िया का चेहरा याद करने की कोशिश करने लगी। थककर अपने पलंग पर जाकर लेट गई। अचानक उसे लगा कि इस चिड़िया का चेहरा अली से मिलता था। लेकिन यह खयाल आते ही वो उठ बैठी और उसने इस खयाल को झटक देने की कोशिश की। उसे लगा कि उसका दिमाग खराब हो गया है। वो जितना इस खयाल को दिमाग से हटाने की कोशिश करती उतना ही ज्यादा उसमें उलझती जाती। उसे याद आया कि अली की नाक के पास जिस जगह मस्सा है उसी जगह चिड़िया की चोंच के पास भी मस्से के बराबर काला निशान था। बात ऐसी थी कि किसी को बताना भी मुश्किल था। लोग सुनते ही, तय था कि मजाक बनाते। शाम को सईद को उसने इस तरह सुनाया जैसे कोई चुटकला सुना रही हो। सईद भी उसी तरह हंसा जैसे कोई मजेदार-सा चुटकला सुना हो। बेमन से उसने भी हंसी में साथ दिया। वो जानती थी, यही होना था। उसने तय किया, अब यह बात वो किसी से भी नहीं कहेगी। सईद के जाते ही वो उठी और अली के कमरे की उस खिड़की को वापस खोल आई, जिसे उसने बंद कर दिया था।

अली कई दिन से गायब था। उसका इस तरह गायब हो जाना न घर वालों के लिए कोई खास बात थी न दोस्तों के लिए। धीरे-धीरे लेकिन समय का फासला बढ़ रहा था और चिंता ने अपने हाथ-पांव निकालना शुरू कर दिया था। दोस्तों को लेकिन यकीन था कि अली एक-न-एक दिन कोई दूर की कौड़ी लाएगा। अली ने कई दुर्लभ चिड़ियों की फेहरिस्त बना रखी थी। दोस्तों के बीच भी वह कई बार उन चिड़ियों का जिक्र कर चुका था। इन चिड़ियों में पहाड़ी बटेर सचमुच एक ऐसी चिड़िया थी जो किसी अंधे के हाथ भी नहीं लगी थी। 1876 के बाद उसे किसी ने नहीं देखा था। लगता था जैसे अंग्रेज बहादुरों ने हमारे कोहिनूर की तरह पहाड़ी बटेर को भी चुरा लिया था। अली ऐसी ही किसी दुर्लभ चिड़िया को ढूंढ़ निकालने का सपना देखता रहता। धीरे-धीरे उसके लेख छपने लगे थे और उसे पक्षीविज्ञानी माना जाने लगा था। दोस्त अब उसका मजाक उड़ाते तो उस मजाक में सम्मान जैसा भी कुछ झांई मारता।

अली जल्दी-से-जल्दी वापस जंगल पहुंचना चाहता था। उसने फिलहाल इस खयाल को मुल्तवी कर दिया कि परिंदों से मिलने वाली जानकारी किसी दोस्त को बताकर लिखवा दी जाए। चिड़िया बन जाने के इस राज को वो राज ही रखना चाहता था। उसने सोचा—जब अपनी शरीकेहयात को ही नहीं बताया तो किसी और नामुराद की क्या औकात! यही सब सोचता हुआ वो उड़ रहा था तभी उसकी नजर बालकिशन के मकान पर पड़ी। बालकिशन बरामदे में बैठा चाय पी रहा था। अली और बालकिशन

कभी स्कूल में एक साथ पढ़ते थे। अली बालकिशन को पसंद नहीं करता था। बालकिशन हल्की तबीयत का आदमी था और अपने फायदे के लिए किसी भी हद तक जा सकता था। अली यूं ही बेमतलब बालकिशन के बरामदे में उतर आया। वो बरामदे की छत से टंगे एक गमले पर जा बैठा। बालकिशन के सामने सुबह के अखबार का शेयर बाजार वाला पन्ना खुला हुआ था। अली ने मन-ही-मन गाली दी...साले को शेयर बाजार के सिवा कुछ नहीं दिखता...कभी बाजार में निकल कर देख कि तेरी औकात के शेयर का भाव कितना नीचे गिर चुका है...इसी समय एक ऐसी घटना या कहें दुर्घटना हुई जिसने अली के लिए सब-कुछ उलट-पुलट कर डाला।

बालकिशन चाय पीते हुए शेयर बाजार वाला पन्ना पढ़ रहा था। इसी समय बालकिशन की बहन हाथ में एक पिंजरा लिए बाहर आई। इस पिंजरे में एक पहाड़ी मैना थी। यह लड़की मन-ही-मन अली से प्रेम करती थी। अली को पहचानने में देर नहीं लगी कि यह वही मैना थी जो पिछले दिनों उसे जंगल में मिली थी। अली पौधे के पीछे छिपने की कोशिश कर रहा था। यह मैना पहले कभी किसी घर में रह चुकी थी। इसलिए वो कुछ रटे हुए वाक्य बोल लेती थी। जंगल में इसी बात से अली गच्चा खा गया था। मैना एक दिन जब उसके पास से गुजरी तो उसने मनुष्यों से सीखा कोई वाक्य बोला। अली के मुंह से अचानक ही वाह निकल गई। परदेस में जैसे कोई हमजुबां मिल गया हो। बस, वाह निकलना था कि मैना अली के पीछे पड़ गई। अली को थक-हारकर अपने बारे में बताना ही पड़ा। अली ने सोचा भी नहीं था कि उसका यह अंजाम होगा। किसी चिड़िया पकड़ने वाले ने शायद उस मैना को पकड़कर बालकिशन के हाथ बेच दिया था। अचानक ही मैना ने पौधे के पीछे छिपे अली को देख लिया। वो अली...अली...कहकर जोर-जोर से चिल्लाने लगी। बालकिशन की बहन समझी कि मैना उसे चिढ़ा रही है, वो मैना को वहीं बरामदे में छोड़कर अंदर भाग गई।

बालकिशन का दिमाग एक साथ ढाई घर चलता था। उसके बारे में कहा जाता था कि उसकी आंख में सूअर का बाल है और वो उड़ती चिड़िया के पंख गिन लेता है। उसने एक बार मैना को देखा और दूसरे ही पल लपककर अली को धर दबोचा। अली के पास कोई चारा नहीं था। उसे अपने चिड़िया में बदल जाने के बारे में बताना ही पड़ा। बालकिशन के हाथ तो जैसे लाटरी ही लग गई थी। इसी खुशी में उससे एक गलती हो गई, उसने अली को हाथ की पकड़ से मुक्त कर दिया। मौका मिलते ही अली उड़न-छू हो गया। बालकिशन चिल्लाता रहा, पर अली ने मुड़कर नहीं देखा।

अली तो उड़ गया। बालकिशन लेकिन एक चलता-फिरता अखबार था। खबर फैलते ज्यादा देर नहीं लगी। बालकिशन के बारे में कहा जाता था कि उसका सर्कूलेशन किसी राष्ट्रीय अखबार से भी ज्यादा है। इसी बात का फायदा उठाकर वो कई बार तरह-तरह की अफवाहें भी उड़ाया करता था। उस पर ज्यादा लोग भरोसा नहीं करते थे। कई दोस्त उसे गप्पीकिशन भी कहने लगे थे। इस बार लेकिन तुरत-फुरत उसने एक लेख लिखा और उसे छपा दिया। लेख इतना रोचक और सनसनीखेज था कि पूरा शहर इस पर बात कर रहा था। शहर में दो ग्रुप बन गए थे। एक मानता था कि यह कोरी गप्प है, लेकिन दूसरा ग्रुप बालकिशन की बातों पर यकीन कर रहा था। अली की बीवी को लगा कि उसका शक सही निकला। उसे बालकिशन की बात एकदम सही लग रही थी। और वो बेचैन थी और उदास भी।

सरकार के कान पर जूं जितनी तसल्ली से रेंगती थी, उतनी ही तसल्ली से उसने रेंगना शुरू किया। सरकार ने पहले गुपचुप ढंग से सचाई जानने की कोशिश की। उसकी गुप्तचर एजेंसियां कुछ-कुछ खबर दे रही थीं लेकिन कोई ठोस सबूत हाथ नहीं आ रहा था। बालकिशन के लेख ने लेकिन कई सरकारी महकमों में हड़कंप मचा दिया था। उसने अली नाम की चिड़िया का जो हुलिया बयान किया था, उसमें बारीकी नहीं थी, उस विवरण से उस चिड़िया को पहचानना मुश्किल था। जिस बात ने सबसे ज्यादा हड़कंप मचाया वो यह थी कि अली नाम की चिड़िया आदमी की जबान में भी बोल लेती है और वो भी कोई रटे-रटाए वाक्य नहीं, खुद के सोचे-समझे वाक्य। जंगल महकमे में सबसे ज्यादा हवाइयां उड़ी हुई थीं। शक हालांकि अभी भी बना हुआ था। शक चीज ही ऐसी थी जो जरा-सी संध मिलते ही घास की तरह उग आती थी। उसके लिए किसी को बीज डालने की जरूरत नहीं पड़ती। लगता था जैसे हवा हमेशा ही अपनी जेब में शक के बीज लिए घूमती हो। इस शक पर लेकिन यकीन का पलड़ा भारी था।

यकीन की शक्ल भी लेकिन यकीन की तरह नहीं, शक की तरह थी। जो बार-बार कान में फुसफुसाता था कि मान लो कि सचमुच ऐसा हो गया हो, अली सचमुच एक चिड़िया में बदल गया हो, तब...तब क्या होगा? नहीं होने

के शक पर, होने का शक भारी था। जिससे ज्यादा नुकसान हो सकता हो वह शक हमेशा भारी होता है। जंगल में अवैध कटाई और शिकार से जुड़े कई शक्तिशाली गिरोह थे। जंगल जैसे एक दिमाग था और देश के पूरे शरीर में उसकी नसों का जाल फैला था। कहीं कोई नस दबाओ जंगल महकमे की नींद में खलल पड़ता था। जंगल माफिया का संबंध जंगल विभाग के हर छोटे-बड़े कर्मचारी से था। जो इस सामूहिक कीर्तन में शामिल होने से ना-नुकर करता, मार दिया जाता। कई नौजवान रेंजर और सुरक्षा कर्मचारी आए दिन मार दिए जाते थे। इस निरंतर चलते हत्याकांड में कुछ अपनी ईमानदारी के कारण मारे जाते और कुछ अपनी चादर से बाहर पांव फैलाने के लिए। मर जाने के बाद सभी को लेकिन ईमानदार ही माना जाता था। मर गए आदमी के पाप दबी जबान से कहे जाते थे।

मंत्रीमंडल की आपात बैठक कई बार बुलाई जा चुकी थी। सरकार का कहना था कि अली एक महत्त्वपूर्ण पक्षी विशेषज्ञ हैं, इसलिए उनकी सुरक्षा सरकार की जिम्मेदारी है और इसे हर स्तर पर सुनिश्चित किया जाएगा। सरकार जो-कुछ प्रकट में बोलती थी, स्वगत में उससे ठीक उल्टा बोलती थी। उसके वाक्य या तो भविष्यकाल पर समाप्त होते थे या 'चाहिए' जैसी हिदायत पर। इसलिए अपराधी इस अंतराल में अपना काम करते रह सकते थे। ऐसी समझदारी सरकार और अपराधियों के बीच बिना कुछ तय हुए भी, तय हो चुकी थी। सरकार की इस घोषणा में भी एक चालाकी बिल्ली की तरह छिप कर बैठी थी। अली ने नए खतरे को सूंघ लिया था। उसका सारा काम ठप्प हो गया था। पहली बार उसे परिंदे में बदल जाने से उलझन हो रही थी। वो न तो एक परिंदे की तरह आजाद रह सकता था न वापस मनुष्य बनना संभव था। इन दिनों उसे बार-बार फजल ताबिश का एक शेर याद आ रहा था...मैं हवा पानी परिंदा कुछ नहीं...

सारे जंगल शिकारियों से भर गए थे। अली छिपता फिर रहा था। चिड़ियों से नई जानकारियां इकट्ठी करने की उसकी इच्छा अंदर-ही-अंदर घुटकर दम तोड़ रही थी। उसने सोचा भी नहीं था कि इस तरह के उपद्रव भी हो सकते हैं। नौकरशाही और राजनीति का पूरा तंत्र उसके लिए अनजाना था। परिंदों से बाहर की दुनिया कितनी जटिल और खूंखार हो चुकी है, इसकी कोई जानकारी उसे नहीं थी। अली को सबसे ज्यादा दुख इस बात का था कि उसके चक्कर में शिकारियों के हाथों बहुत-सारी दुर्लभ चिड़ियां मारी जा रही थीं। कई बार उसे लगता कि उसे अपने को प्रकट कर देना चाहिए। दूसरे ही पल लेकिन मारे जाने का भय उसे दबोच लेता और वो फिर छिपने की नई जगहें तलाशने लगता। सारे परिंदों में अफरा-तफरी मची हुई थी। उनमें अपने को बचाने की कोई समझ नहीं थी। सहज बुद्धि से वे कभी-कभी खतरे को पहचान लेते थे। उनके लिए ये एकदम नई मुसीबत थी। चिड़ियों को समझ नहीं आ रहा था कि वो कहां जाएं, क्या करें। पहाड़ी मैना और कुछ तोते जो कभी-कभी मनुष्यों से सीखे वाक्य बोल लेते थे, अब एकदम चुप थे। सारे जंगल, जो सुबह-शाम चहचहाटों से गूंजते रहते थे, अब बहुत सूने-सूने-से हो गए थे।

अली को एक फायदा था कि वो अभी भी मनुष्यों की तरह भी बोल सकता था। शिकारियों का कोई दल जब उस पेड़ के लगभग पास पहुंच जाता, जिस पर अली बैठा होता, तो पत्तों के पीछे छिपकर अली मनुष्यों की आवाज में बोलता...अरे उधर...उधर...उस बड़े वाले सागोन के पीछे...उस शहतूत की तरफ...अरे बेवकूफ इधर नहीं... उधर...करौंदे की झाड़ी की तरफ...शिकारियों के दल बहुत बड़े थे। वे अक्सर झुंड में घूमते थे। इसलिए उन्हें लगता कि उन्हीं में से कोई बोला होगा और वे आगे निकल जाते। अली ने कई बार इसी तरह अपनी जान बचाई थी। धीरे-धीरे उसके लिए यह एक खेल भी हो गया था। कुछ खीज और गुस्से के कारण कई बार वो सिर्फ शिकारियों को छकाने के लिए यह हरकत करता। जब शिकारियों को चोट लगती या वो थककर लस्त-पस्त हो जाते और गालियां बकने लगते तो अली को बहुत मजा आता। अभी दो दिन पहले एक गोली उसके बिल्कुल बगल से निकल गई। अगर वो जरा-सा नहीं हटता तो काम लग जाता। वो कई दिनों से ठीक से सो नहीं पा रहा था। रात में भी बड़ी-बड़ी रोशनियां जंगल के अंधेरे को छेदती रहती थीं।

इन्हीं दिनों एक नया आंदोलन शुरू हो गया था। पर्यावरणवादी संगठनों ने पक्षियों के बड़ी संख्या में मारे जाने के खिलाफ धरने और रैलियां निकालना शुरू कर दिया था। इन संगठनों को अंतरराष्ट्रीय समर्थन मिला हुआ था। इसलिए रातोरात सारे अखबारों और मीडिया में भी इन संगठनों की खबरें आनी शुरू हो गईं। विदेशी टी.वी. और अखबारों के प्रतिनिधियों ने जंगलों की ओर कूच करना शुरू कर दिया। सरकार के लिए यह एकदम नई आफत थी। पहले तो सरकार पर्यावरणवादियों के आरोपों का खंडन करती रही, फिर जांच के आश्वासन दिए जाने लगे। अंदर-ही-अंदर सरकार ने माफिया गिरोहों को चुप हो जाने की हिदायत भी दी। अली छिपते-छिपते और एक जंगल से

दूसरे जंगल उड़ते-उड़ते तंग आ गया था। सनसनाती गोलियों, गुलेल से छूटे पत्थरों और तीरों से वो घबरा चुका था। एक दिन उसने तय किया, अब वो जंगल से अपने घर चला जाएगा। और एक दिन अली ने जंगल से निकलकर अपने घर की ओर उड़ान भरी...बहुत सारी बंदूकें एक साथ गरजीं...बहुत सारी गुलेलों से पत्थर छूटे...

प्रिय पाठको!

कहानी में इसके बाद क्या हुआ यह किसी को भी ठीक-ठीक पता नहीं। जिस तरह अली के चिड़िया बनने पर, आज भी बहुत-सारे लोग यकीन नहीं करते। हकीकत वैसी ही थी जैसा मुहावरे में कहा जाता है...जितने मुंह उतनी बातें। बल्कि बातें मुंह से भी ज्यादा ही थीं। कुछ लोगों का कहना था...बकरे की मां कितने दिन खैर मनाती। एक छोटे-से परिंदे की क्या मजाल कि इतने घाघ शिकारियों से बच पाता। मतलब यह कि कुछ लोग मानते थे कि अली उस दिन मारा गया और उस छोटे-से परिंदे की लाश को कहीं फेंक दिया गया...लेकिन कहां फेंक दिया? कैसे फेंक दिया? सारे लोग क्या आंख मूंदकर खड़े थे? किसी ने कुछ भी न देखा हो, भला ऐसा कैसे हो सकता है? सौ तरह की बातें और हजार तरह के सवाल थे। कुछ लोगों का मानना था कि पर्यावरणवादियों के आंदोलन का दबाव और सरकारी घोषणाओं के चलते शिकारी उस दिन सड़कों पर नहीं आ पाए। इसी का फायदा लेकर अली सबको चकमा देकर अपने घर पहुंच गया था। फुसफुसाकर बोलने से क्योंकि बात की विश्वसनीयता बढ़ती थी इसलिए लोग जबान दबाकर कहते...अली की बीवी ने उसे कहीं छिपा दिया है। देखना एक दिन वो जंगल के सारे कारनामों का ऐसा भंडाफोड़ करेगा कि बड़े-बड़ों की पतलूनें गीली हो जाएंगी। कई लोग अलग-अलग बहानों से जब-तब अली के घर में ताक-झांक भी करते रहते थे। कहा तो यहां तक जाता है कि सरकार ने भी पुलिस भेजकर अली के घर की बाकायदा तलाशी करवाई थी। बात बनाने में लोगों को महारत हासिल थी। वो किसी भी तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बना सकते थे।

इन सबसे अलग एक समूह और था। उसके किस्सों और तर्कों का कोई तोड़ नहीं था। वे लोग सारी घटना का वर्णन इस तरह करते थे जैसे वे उसके चश्मदीद गवाह हों। वे कहते...अली को घर की तरफ उड़ते हुए गोली तो लगी थी...अरे जनाब हमने देखा, हमारी आंख के सामने अली को गोली लगी...खून की एक बूंद भी जमीन पर गिरी...लेकिन इसके बाद, आप यकीन नहीं करेंगे, आप जिसकी कहो उसकी कसम खाकर कहता हूं कि साब...इसके बाद सचमुच चमत्कार हुआ...गोली पिघल कर...सुनहरी पानी की शक्ल में जमीन पर आ गिरी...और साहब पलक झपकते अली एक दूसरे ही परिंदे की शक्ल में बदल गया...कसम परवरदिगार की...उसने ऐसी उड़ान भरी कि आंख भी पीछा नहीं कर पाई...इस कहानी पर भी यकीन करने वाले शहर में कम लोग नहीं थे। उनसे कोई तर्क करता तो उनका एक ही जवाब होता...आदमी अगर परिंदा बन सकता है तो फिर कुछ भी हो सकता है...बहरहाल, कहते हैं कि शिकारियों के कई दल अभी भी जंगलों में घूम रहे हैं और अली को तलाश रहे हैं...

इसी बीच हमारे शहर के एक शायर ने उस परिंदे की मौत पर एक मर्सिया भी लिख लिया था। अली के बारे में लेकिन कुछ तय नहीं हो पा रहा था। इसलिए मर्सिया जिसे अंजाम भोपाली ने अंजाम दिया था आज भी उनकी जेब में रखा रहता है। पता नहीं कब खबर आ जाए और कब उसे पढ़ना पड़े...। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

गांधी का मानवीय.....पृष्ठ 24 का शेष

लक्षण है—की पूर्ति हो जाती है वहीं समानता की संस्थापना भी शांतिपूर्ण तरीके से संभव हो जाती है। इस प्रकार यह अहिंसक क्रांति का उपकरण प्रतीत होता है। प्रो. निर्मलकुमार बोस के अनुसार—'गांधी का यह सिद्धांत वर्ग सहयोग का नहीं वरन् शांतिपूर्ण व स्वैच्छिक वर्ग परिसमाप्ति का सिद्धांत है।'[15] यह ध्यातव्य है कि गांधी के इस सिद्धांत की प्रेरक शक्ति आर्थिक नहीं अपितु नैतिक है। वस्तुतः इसी आधार पर उसकी व्यवहार्यता पर शंका की जाती है। आलोचकों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि धनिक वर्ग से नैतिक अपील की प्रभावशीलता संदेहास्पद है।[16]

गांधी ने प्रन्यासिता के विचार की व्यावहारिकता के प्रति किए गए संदेहों का निराकरण कियां। उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रन्यासिता का विचार उनकी समग्र आर्थिक योजना का ही एक हिस्सा है, अतः उसका मूल्यांकन—उनकी आदर्श आर्थिक प्रणाली के अन्य तत्त्वों के साथ मिलाकर ही किया जाना चाहिए। अर्थ व्यवस्था के विकेंद्रीकृत स्वरूप को अपना लेने के पश्चात् तो किसी व्यक्ति को विपुल मात्रा में संपत्ति के उपार्जन का अवसर ही प्राप्त नहीं होगा तथा जो सीमित संपदा वह अर्जित करेगा उसमें से अपनी आवश्यकता-भर रखने के पश्चात् शेष को समुदाय के हित में समर्पित करने में उसे संकोच या कष्ट नहीं होगा। गांधी ने ध्यान दिलाया कि अपनी संपदा में से कुछ दान करने की प्रवृत्ति मानव स्वभाव का एक सहज तत्त्व है। भारतीय संस्कृति में तो दान को व्यक्ति के नैतिक उत्थान हेतु अनिवार्य माना गया है। न्यासिता का विचार तो इस सहज दानवृत्ति को, आर्थिक गतिविधियों का प्रेरक नियम बनाकर सहज मानवीय भावना को ही व्यवस्थित रूप प्रदान करता है।[17]

ट्रस्टीशिप का आधार गांधीवादी तीन अवधारणाएं हैं—अहिंसा, समता एवं स्वराज। ये तीनों एक-दूसरे से संबद्ध हैं। जो समाज अहिंसा पर आश्रित है, वह किसी भी अन्य आदर्श को जितना अधिक अपनाएगा, उतनी ही सरलता से हम समान वितरण के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। हम अपने लक्ष्य के प्रति जितना अधिक बढ़ते हैं, हमेशा उतना ही संतोष और खुशी हासिल होती जाएगी और उतना ही हम अहिंसापूर्ण समाज की स्थापना में योगदान दे सकेंगे। ❖

संदर्भ :

1. टूवर्ड्स लास्टिंग पीस : ए.टी. हींगोरानी द्वारा संपादित, मुंबई, भारतीय विद्या भवन, 1966
2. तेंदुलकर डी.जी. : महात्मा : लाइफ ऑव मोहनदास करमचंद गांधी, 1957, नई दिल्ली पब्लिकेशन।
3. दास रतन : गांधी इन ट्वन्टीफर्स्ट सेंचुरी, स्वरूप एंड संस, नई दिल्ली।
4. देसाई नारायण : भारत में शांति सेना, सर्व सेवा संघ प्रकाशन।
5. दासगुप्ता, सुजाता : फिलॉसोफिकल अजंपशन्स फॉर ट्रेनिंग इन नॉन वायलेंस, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।
6. दिवाकर आर.आर : गांधी ए प्रेक्टिकल फिलोस्फर, भारतीय विद्या भवन, मुंबई।
7. दीक्षित गोपीनाथ : गांधीजी की चुनौती कम्युनिज्म को।
8. द मॉरल एंड पॉलिटिकल राइटिंग्स ऑव महात्मा गांधी, (वाल्यूम 1-3), क्लेरेंडन प्रेस ऑक्सफोर्ड, 1986
9. द वे टु कम्यूनल हारमनी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।
10. द नेशन्स वॉयस (सं. सी. राजगोपालाचारी तथा कुमारप्पा), नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।
11. देसाई, महादेव : महादेव भाई की डायरी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन।
12. धवन, गोपीनाथ : द पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑव महात्मा गांधी, सर्वोदय तत्त्व दर्शन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
13. नंदा वी.आर. गोखले : गांधी एंड नेहरू जार्ज अलेन एंड उनविल, लंदन, 1974
14. नंदा वी. आर. : महत्मा गांधी एंड हर क्रिटिक्स, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, दिल्ली 1985
15. नारायण के.एल. : गांधी इन द आईज ऑव द वर्ल्ड, तेनाली पांडुरंग प्रेस, 1964
16. नागर, डॉ. पुरुषोतम : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवम् राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
17. नारायण जयप्रकाश : गांधीज व्यू ऑव पॉलिटिकल पावर, डीप पब्लिकेशंस, नई दिल्ली। ❖❖

धर्म की अंतिम लौ हमें वहां भी स्वीकार करनी चाहिए जहां आधुनिक दार्शनिक ईश्वर और देवताओं को तो व्यर्थ घोषित करता है किंतु किसी प्रेम की मधुर स्मृति में नतमस्तक होता है और अपना सर्वस्व मानवता की सेवा में लगाता है।

—मैक्समूलर

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

मैं ही तो हो गया होता हूं शब्द

नहीं, कविता रचना नहीं
सुबूत है कि
मैंने अपने को रचा है।

मैं ही तो होगया होता हूं शब्द
फुफकारते समुद्र में लील लिया जाकर भी
सुबह के फूल-सा खिल आता हुआ।

फूल में फूटकर
अपने को ही तो रच रहा होता है पेड़!

अरे!
तो क्या तुम भी
मुझे रचकर ही
खुद को रच पाते हो?

•

तुम भी कहीं

क्या सचमुच
तुम्हारे चाहने मात्र से
रची गई यह सृष्टि?

देखो, छुपाओ नहीं
मैंने भी बारहा चाहा है
कुछ रचना
पर कुछ भी नहीं हो सका है
कागज पर इरछी-तिरछी लकीरों
और बाल नोच लेने के सिवा।
शब्द—जब भी हुए हैं—
मेरी विवशता ही रहे हैं
संकल्प नहीं
और मैं निमित्त ही हो सका हूं
केवल निमित्त।

तुम भी कहीं...?
लेकिन तुम तो प्रभु कहलाते हो?

•

अब नियति हूं

मर जाऊंगा मैं किसी दिन
यह दुनिया भी
तब भी तुम रहोगे
और तुम्हारी आंख में
किरकिरी-सा ही सही
—न सही किसी मधुर सपने-सा—
रड़कता ही रहेगा वह दृश्य
जो तुमने देखा है
यानी मैं
यानी यह दुनिया।

मैं जो तब तुम्हारी सृष्टि था
अब नियति हूं।

•

घर उस की स्मृति में

मुक्ति की तलाश में
खोजती है आत्मा
एक घर
ताकि उसको छोड़कर
वह मुक्त हो जाए।

घर उसकी स्मृति में
खंडहर ही रहता है सदा। ❖❖

शीलन

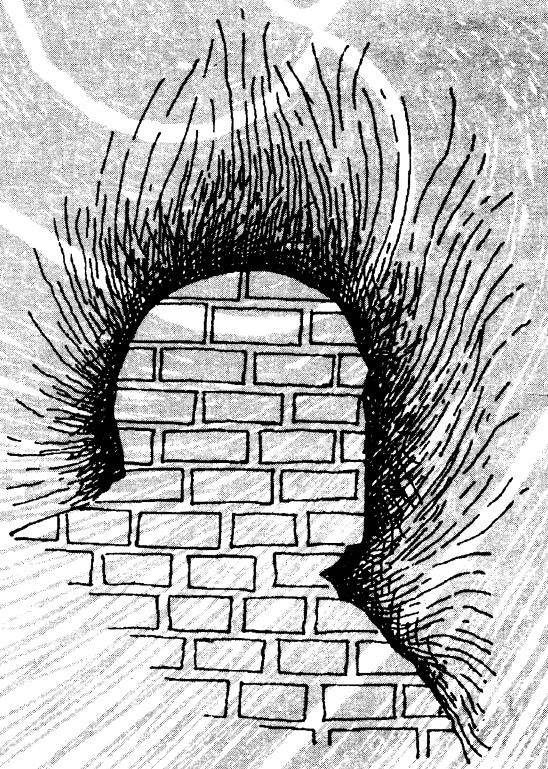

शिक्षा इतनी उचित होनी चाहिए कि जिससे लोग इस योग्य बन जाएं कि जमीन को अधिक उर्वरा बना सकें, खानों को अधिक उत्पादक बना सकें, वाणिज्य-व्यवसाय को अधिक व्यापक तथा विस्तृत बना सकें, शरीरों को अधिक सक्रिय बना सकें, हृदयों को अधिक मौलिक बना सकें—उनको अधिक पवित्र बना सकें, उद्योगों को अधिक बहु-विध बना सकें तथा राष्ट्र को अधिक सुसंगठित बना सकें।

विद्वत्ता का परिचय देने के लिए ग्रंथों के लंबे-लंबे उद्धरण देने की क्षमता—व्यर्थ विवाद के लिए बाल की खाल निकालना—धर्मशास्त्रों के किसी अंश द्वारा दूसरे के हृदय को यंत्रणा पहुंचाना, इस प्रकार के विषयों का अध्ययन करना, जिनका जीवन में कभी उपयोग ही नहीं होगा—इसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता। उस ज्ञान का ग्रहण करना, जिसे हम क्रियान्वित नहीं कर सकते या अमल में नहीं ला सकते, आध्यात्मिक अजीर्ण अथवा मानसिक बदहजमी का रोग (Mental dyspepsia) है।

—स्वामी रामतीर्थ

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र की आराधना करने वाला कोई भी संप्रदाय बंधन-मुक्त हो सकता है—यह महावीर की अवधारणा थी। महावीर की मान्यता थी कि गृहस्थ जीवन में भी ज्ञान-दर्शन और आचरण को साधने वाला सिद्ध हो सकता है।

स्वस्थ समाज संरचना के संकल्प

मुनि किशनलाल

12 वर्ष 7 महीने के गहन प्रयोग और अनुसंधान के बाद महावीर को सत्य की उपलब्धि हुई थी। ज्ञान, दृष्टि और आचरण के द्वारा बंधन-मुक्ति ही उनकी साधना का सत्य था। इसके लिए उन्होंने दो तरह के मार्ग बताए। पहला अणगार मार्ग यानी साधुचर्या और दूसरा आगार यानी गृहस्थ जीवन की चर्या। इसी तरह साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना करने के कारण महावीर तीर्थंकर कहलाए। तीर्थ एक संघ बन गया। उन्होंने धर्म को संप्रदायमुक्त ही रखा। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र की आराधना करने वाला कोई भी संप्रदाय बंधन-मुक्त हो सकता है—यह महावीर की अवधारणा थी। महावीर की मान्यता थी कि गृहस्थ जीवन में भी ज्ञान, दर्शन और आचरण को साधने वाला सिद्ध हो सकता है। उसे गृहलिंग सिद्ध कहा गया। धर्म के क्षेत्र में महावीर के विचार बहुत व्यापक थे। उन्होंने कहा—

1. धर्म की आराधना स्त्री और पुरुष दोनों ही कर सकते हैं। इसलिए श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

2. धर्म की आराधना में वर्ग भेद नहीं हो सकता। इसलिए राजा से लेकर साधारण मजदूरी करने वाले तक सभी संघ में दीक्षित किए गए।

3. धर्म की आराधना में जाति भेद नहीं हो सकता। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी संघ में दीक्षित किए गए। गौतम आदि ब्राह्मणों से लेकर हरिकेशी जैसे चंडाल तक समान रूप से संघ के साधु बने।

4. धर्म की आराधना में क्षेत्र भेद नहीं किया जा सकता। गांव, शहर और जंगल सब जगह धर्म की आराधना की जा सकती है।

5. धर्म की आराधना गृहस्थ भी कर सकता है और साधु भी।

6. धर्म का उपदेश सभी को दिया जा सकता है। धनी, गरीब, उच्च जाति, नीच जाति, पुरुष, स्त्री आदि का कोई भेदभाव किए बिना सभी को धर्म बताया जाना चाहिए।

भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए चार प्रकार के आगार बताए—

1. राज्यागार, 2. समाजागार 3. कुटुंबागार, 4. व्यक्ति आगार। इसके लिए निम्न प्रकार से संकल्प ग्रहण किए जाते हैं—'मैं राज्यागार, समाजागार, कुटुंबागार और अपने व्यक्तिगत जीवन में कर्तव्यरत रहते हुए ज्ञान, दृष्टि और आचरण को बलशाली करूंगा। उस पर आने वाली आपत्तियों और विपत्तियों का निराकरण करूंगा।' इसकी धारणा विभिन्न रूप से इस प्रकार की जाती है—

ज्ञान की आराधना

ज्ञान की आराधना में अहंभाव, हीनभाव, राग, द्वेष का विसर्जन करने के लिए प्रेक्षाध्यान की साधना करूंगा ताकि मुझे केवल-ज्ञान प्राप्त हो सके। जब तक केवल-ज्ञान प्राप्त नहीं होता, मैं केवलियों द्वारा प्ररूपित सूत्रों का स्वाध्याय करूंगा। द्रव्य की दृष्टि से—मेरी साधना इसी तरह सीमित है। क्षेत्र की दृष्टि से—मैं जिस भी क्षेत्र में रहूं साधना जारी रहेगी। काल की दृष्टि से—जीवन-पर्यंत साधना चालू रहेगी। भाव की दृष्टि से—राग-द्वेष रहित और उपयोग सहित साधना है। गुण की दृष्टि से—संवर और निर्जरा हेतु साधना है। ज्ञान की इस साधना के प्रति व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र को बलशाली करने के लिए सक्रिय रहूंगा।

ज्ञान की आराधना के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनसे बचना चाहिए।

इसी प्रकार तप की आराधना की जाती है। तप के बारह प्रकार हैं। श्रमणोपासक को ये भी जानने चाहिए। ये प्रकार हैं—अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग। इसी प्रकार दृष्टि की आराधना की जाती है। दृष्टि की आराधना में अपना लक्ष्य 'स्वतंत्रता और समता' निर्धारित किया जाता है। जब तक इस लक्ष्य को पूर्णतया प्राप्त नहीं कर लिया जाता। तब तक राज्यागार, समाजागार, कुटुंबागार और देवागार या व्यक्तिगत जीवन में स्थूल रूप से स्वतंत्रता और समता को बलशाली करने का संकल्प लिया जाता है और लक्ष्य के प्रति आने वाली आपत्तियों और विपत्तियों के निराकरण के प्रति भी संकल्पित होना जरूरी है।

इसी प्रकार यह माना जाता है कि—

द्रव्य की दृष्टि से—मेरी दृष्टि की आराधना इसी तरह सीमित है।

क्षेत्र की दृष्टि से—हर क्षेत्र में साधना चालू रहेगी।

काल की दृष्टि से—जीवन-पर्यंत लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर रहूंगा।

भाव की दृष्टि से—राग, द्वेष रहित उपयोग सहित लक्ष्य की साधना चालू रहेगी।

गुण की दृष्टि से—संवर और निर्जरा हेतु लक्ष्य प्राप्ति की ओर बढ़ूंगा।

दृष्टि की इस साधना को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र में बलशाली करने के लिए सक्रिय रहूंगा—यह संकल्प लेना चाहिए। इस साधना के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनके आचरण से बचना चाहिए।

आचरण—'प्राणातिपात विरमण व्रत में मैं स्थूल रूप से प्राणातिपात का विरमण करता हूं'—यह संकल्प किया जाता है। इसकी धारणा पांच तरह से की जाती है। राज्यागार, समाजागार, कुटुंबागार और देवागार या व्यक्तिगत जीवन में—

किसी भी निरपराध प्राणी की हत्या करना, किसी भी निरपराध मनुष्य व तिर्यंच या उनके समुदाय पर आक्रमण करना और उत्पीड़न करने जैसे कार्य जिससे समाज अस्वस्थ बने, लोगों में भर्त्सना हो, राज्य दंडित करे—करने, कराने का विसर्जन करता हूँ—मन से, वचन से, काया से—ऐसा संकल्प किया जाता है।

प्राणातिपात के विसर्जन को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र तक व्यापक बनाने के लिए सक्रिय रहने का संकल्प भी इसमें निहित है। इस व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनके आचरण से बचना चाहिए। 1. वध, 2. बंधन, 3. छविच्छेद, 4. अतिभार, 5. भक्तपान विच्छेद आदि। यदि इनमें से कोई भी अतिचार सेवन हो गया हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

मृषावाद विरमण विरति व्रत में स्थूल रूप से मृषावाद की विरति की जाती है। इसकी धारणा पांच तरह से होती है। 1. कन्यालीक, 2. गवालीक, 3. भूम्यालीक, 4. थापन मोसा, 5. कूट साक्षी जैसा स्थूल झूठ जिससे समाज अस्वस्थ बने, लोगों में भर्त्सना हो, राज्य दंडित करे—ऐसा झूठ बोलने की, बुलवाने की विरति की जाती है—मन से, वचन से, काया से।

मृषावाद विसर्जन को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र तक व्यापक बनाने के लिए सक्रिय रहने का संकल्प भी किया जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमण-साधक को जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए—1. सहसाभक्खणे, 2. रहसाभक्खाणे, 3. सदारमन्तभए, 4. मोसोवयसे, 5. कूडलेहकरणे।

यदि इनमें से कोई भी अतिचार दोष सेवन हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए और क्षमा मांगनी चाहिए।

अदत्तादान विरमण व्रत—स्थूल रूप से अदत्तादान का विरमण (विरति) किया जाना चाहिए। इसकी धारणा पांच तरह से की जाती है—1. खात खोद, 2. गांठ खोल, 3. बाटपाड़, 4. ताला पर कुंजी करके, 5. किसी की गिरी हुई वस्तु हस्तगत करने जैसे कार्य—जिनसे समाज अस्वस्थ बने, लोगों में भर्त्सना हो, राज्य दंडित करे—करने, कराने का विसर्जन किया जाता है।

अदत्तादान विरमण व्रत को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र में व्यापक बनाने के लिए सक्रिय रहने का भी संकल्प किया जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिनको श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए—1. तेणेंहडे, 2. तक्करपओगे, 3. विरुद्धजाइक्कमे, 4. कूड़तूलकूड़माणे, 5. मिलावट (प्राकृत शब्द अपेक्षित—तपडिरुवगाव्यवहारे)।

यदि इनमें से कोई भी अतिचार दोष सेवन हो गया हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त लेकर क्षमा याचना करनी चाहिए।

स्वच्छंद यौनाचार विरमण व्रत—इस व्रत में स्थूल रूप से स्वच्छंद यौनाचार का विरमण होता है। इसकी धारणा पांच तरह से की जाती है। स्व-विवाहित मनुष्य पुरुष-स्त्री को छोड़कर अन्य किसी मनुष्य/मनुष्यणी, तिर्यंचणी, देव देवीइगी, नपुंसक और निर्जीव वस्तु के साथ स्वच्छंद यौनाचार करने-कराने, जिससे समाज अस्वस्थ बने, लोगों में भर्त्सना हो, राज्य दंडित करे—विसर्जन किया जाता है।

स्वच्छंद यौनाचार विरमण को व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र—चारों आयामों में व्यापक बनाने के लिए सक्रिय रहने का भी संकल्प किया जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार होते हैं—जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। यदि इनमें से कोई भी अतिचार दोष-सेवन हुआ हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त किया जाता है और क्षमायाचना करनी होती है। ये पांच अतिचार इस प्रकार हैं—1. इतर परिग्रहिता गमन 2. अपरिग्रहिता गमन, 3. अनंग क्रीड़ा, 4. पर-विवाहकरण, 5. काम भोग तीव्र अभिलाषा।

इतर परिग्रहिता गमन—किसी दूसरे की विवाहिता के पास पहुंचना। अपरिग्रहिता गमन—यौनाचार की अनिच्छुक के पास जाना। अनंग क्रीड़ा—अप्राकृतिक यौनाचार। पर-विवाहकरण—किसी दूसरी स्त्री या दूसरे पुरुष से विवाह रचाना। काम भोग तीव्र अभिलाषा—यौनाचार की तीव्र इच्छा।

परिग्रह विसर्जन व्रत : इस व्रत में स्थूल रूप से परिग्रह के विसर्जन का संकल्प किया जाता है। इसकी धारणा इस तरह की जाती है—

1. धन-धान्य, 2. हिरण्य-स्वर्ण, 3. द्विपद-चतुष्पद, 4. क्षेत्र-वास्तु, 5. कुप्य-धातु।

जो भी परिग्रह पास में है उसकी एक सीमा निश्चित की जाती है। व्यक्तिगत आय प्रतिमाह अर्जित करने की सीमा भी निश्चित कर ली जाती है, उससे अधिक आय नहीं करने का संकल्प किया जाता है। इससे अधिक जो भी धन बढ़ेगा उसके स्वामित्व का विसर्जन करने का संकल्प किया जाता है। उसे अपने नेश्राय में नहीं रखने या किसी ट्रस्ट को बिना नाम के विसर्जन के रूप में सौंपने का संकल्प भी किया जा सकता है। उक्त राशि का उपयोग राष्ट्र और समाज के हित में किया जाएगा, क्योंकि विसर्जित राशि राष्ट्र और समाज की है।

इस परिग्रह विसर्जन व्रत को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र आगारों को व्यापक बनाने के लिए सक्रिय रहने का संकल्प भी किया जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। स्वयं की सीमा से अधिक अगर राज्य, समाज और परिवार के अन्य जनों का धन भी जमा है तो उसके प्रमाण का अतिक्रम नहीं किया जा सकता।

यदि प्रमादवश कोई अतिचार दोष-सेवन हो जाए तो उसके लिए प्रायश्चित्त करने का संकल्प किया जाता है और क्षमायाचना की जाती है।

दिशा परिमाण व्रत : इस व्रत के द्वारा भारत देश की आकाशीय सीमा, नीचे की दिशा, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं में निर्धारित सीमाओं का आदर करने और बिना राजकीय स्वीकृति तथा अन्य देश की स्वीकृति के उस देश में प्रवेश करने और कराने का विरमण किया जाता है। ऐसी कोई भी यात्रा, जिससे समाज अस्वस्थ बने, लोक निंदा हो और दंडित करे—स्वयं करने या दूसरों को कराने का विरमण किया जाता है।

इस दिशा परिमाण व्रत को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र—चारों आयामों में व्यापक बनाने के लिए सक्रिय रहने का संकल्प भी किया जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए—

ऊर्ध्व दिशा प्रमाणातिक्रम, अधो दिशा प्रमाणातिक्रम, तिर्यक दिशा प्रमाणातिक्रम, सीमाओं को एक तरफ घटाकर दूसरी तरफ बढ़ा लेना, सीमाओं की विस्मृति हो जाना।

यदि प्रमादवश कोई भी अतिचार दोष-सेवन हो गया हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त करने और क्षमायाचना करने का भी संकल्प लिया जाता है कि आगे से सजग रहूंगा।

उपभोग-परिभोग व्रत : भोग के लिए नहीं, बल्कि मात्र उपयोग के लिए ही भोजन, पानी, वस्त्र, वाहन, भवन आदि का प्रयोग करने का संकल्प इस व्रत के अंतर्गत लिया जाता है। इस तरह आराम से जीने लायक आवश्यकता का निर्धारण करके असीम तृष्णा का विसर्जन किया जाता है। जैसे—1. दिन में तीन बार से अधिक नाश्ता सहित भोजन नहीं करूंगा। आहार में सात्विक शाकाहारी भोजन के सिवा अन्य किसी भी प्रकार के भोजन का प्रयोग नहीं करूंगा। एक बार भोजन करने के पश्चात् तीन घंटा तक जल को छोड़कर कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करूंगा। 2. किसी भी प्रकार का नशा, जैसे—धूम्रपान, जर्दा, भांग एवं 'ड्रग्स'

आदि का उपयोग नहीं करूंगा, नहीं कराऊंगा—मन से, वचन से, काया से। 3. सात जोड़ी वस्त्र (अंडरवियर, पायजामा या धोती, गंजी, कुर्ता, कोट, टोपी, चद्दर, शाल आदि) से ज्यादा वस्त्र का संग्रह नहीं करूंगा। ऊनी वस्त्र दो जोड़ी रखूंगा। 4. एक पारिवारिक भवन, जिसमें...कमरे और...हॉल हो—से अधिक मकान—रिहायशी तौर पर एक गांव या शहर में नहीं रखूंगा। उसमें भी मैं सिर्फ एक कमरे और बाथरूम का प्रयोग करूंगा। हॉल या भोजनालय सामूहिक प्रयोग के रूप में काम लूंगा। 5. व्यक्तिगत रूप में एक कार से अधिक नहीं रखूंगा। सामूहिक उपयोग के तौर पर किसी भी गाड़ी, बस, रेल तथा हवाई जहाज का इस्तेमाल किया जा सकेगा।

परिवार में व्यक्तिगत रूप से सबको उपभोग की मर्यादाओं से परिचित कराने और बहुमतव्रती सदस्यों के होते ही परिवार की तरफ से प्रस्ताव पास करके ये विषय परिवार में लागू कर दिए जाएंगे।

समाज में कार्यरत संस्थाओं को भी उपयोग-परिभोग में सीमा मर्यादाओं को रखने की प्रेरणा दी जानी चाहिए और जब संस्था की कार्यकारिणी के सदस्य इसे महत्त्व देंगे तो संस्था में इन मर्यादाओं का प्रस्ताव भी पारित हो सकता है।

राष्ट्रीय जीवन में कार्यरत संस्थाओं को भी उपभोग में सीमा मर्यादा की प्रेरणा दी जानी चाहिए और उनमें भी मर्यादा का प्रस्ताव पारित कराया जा सकता है।

उपभोग-परिभोग व्रत का पालन करने वाले श्रावक को उपभोग सामग्री अपनी कमाई से ही प्राप्त होती है। अगर कमाने में अनैतिक और क्रूर व्यवहार वाले व्यवसाय का चुनाव करता है तो उसको उपभोग में किए गए संकल्प के बावजूद भी अत्यधिक आरंभ-समारंभ के कारण कर्मों का बंध होता चला जाता है। इसलिए श्रावक को नीचे बताए कर्मादानों से बचना चाहिए :

1. अंगार कर्म—ऐसा उद्योग जिसमें अग्निकाय का अत्यधिक उपयोग किया जाता है। इसे अग्निकाय आरंभ वाला उद्योग कहते हैं। 2. वन कर्म—वन में हरे-भरे वृक्ष होते हैं। वनों की सुरक्षा से धरती पर जीवन चलता है। अतः पेड़ नहीं रहेंगे तो पृथ्वी पर जीवन ही समाप्त हो जाएगा। इसलिए श्रावक को वन काटकर लकड़ी बेचने के व्यवसाय से बचना चाहिए। 3. शाटक कर्म—वाहन-उद्योग जिसमें पशुओं को जोता जाकर उनका शोषण किया जाता है। 4. भाटक कर्म—वाहनों द्वारा माल ढोने का उद्योग। 5. दंत वाणिज्य—हाथी आदि पशुओं के दांत आदि का व्यवसाय। 6. स्फोटक कर्म—बारूदी विस्फोट के द्वारा खदानों आदि से माल निकालना। 7. लाक्षा वाणिज्य— लाख का व्यवसाय। 8. रस वाणिज्य—शराब आदि नशीली वस्तुओं का व्यवसाय। 9. विष वाणिज्य—विषैली वस्तुओं का व्यवसाय। 10. केश वाणिज्य—भेड़ आदि को पालकर उनके केश आदि का व्यवसाय करना। 11. यंत्र पीलन कर्म—कोल्हू, चक्की आदि चलाने का व्यवसाय। 12. निर्लांछन कर्म—बैल आदि पशुओं को नपुंसक बनाकर उनसे काम लेना/बनाने का व्यवसाय। 13. दावाग्नि दापन कर्म—जंगलों को जलाने का काम। 14. सर द्रह तड़ाग शोषण—जलाशयों को सुखाना। 15. असईजण पोतणीयां—हिंसक असंयति उग्रवादी जनों का पोषण। हिंसक प्राणियों का व्यापार पोषण। जैसे कुत्ता, बिल्ली, सिंह आदि।

सामायिक व्रत : इस व्रत में समता की आराधना का संकल्प किया जाता है। विश्व में जो मानव हैं, उनको अपने समान समझकर उनके साथ समता का व्यवहार करने, सभी प्राणियों के साथ भी मैत्री का और समता का विस्तार करने, प्राणियों के प्रति समता का भाव जागृत करने के लिए 48 मिनट के लिए सामायिक की साधना की जाती है। मैत्री विस्तार का उद्देश्य पाप सहित स्वयं को विषमता से अलग करना है। विश्व के सभी जीवों के प्रति समता भाव जागृत करना है। संपूर्ण समाज स्वस्थ बने, सभी प्रसन्न रहें, सभी मन, वचन और काया से शांतिप्रिय बनें—यह इस व्रत का उद्देश्य है।

इस सामायिक व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें व्रत ग्रहण करने वाले को जानना चाहिए और उनके आचरण से बचना चाहिए—समता के अभ्यास में मन में मलिनता आ गई हो, शरीर और वाणी पर कलुष भाव के कारण साम्यभाव असंतुलित हो गया हो, संकल्प लेने पर भी साधना में संकल्प की विस्मृति हो गई हो, समय की मर्यादा से चित्त अस्थिर हो गया हो और सामायिक में कालमान से पूर्व उसे निष्पन्न किया हो। ऐसी स्थिति में अंतःकरण से अतिचार की आलोचना करने और भूल के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए। भविष्य में सजग होकर साधना करने का संकल्प भी लेना चाहिए।

देशावकासिक व्रत : इस व्रत के माध्यम से दिनचर्या निर्धारित की जाती है। व्रत धारणा के अलावा आरंभ-सभारंभ करने और कराने का विसर्जन किया जाता है। परिवार, समाज और राष्ट्र की संस्थाओं को स्वस्थ बनाने का प्रयास करने का संकल्प लिया जाता है।

शेष पृष्ठ 56 पर

सवाल किया जा सकता है कि बोलने के बारे में इतना विधान क्यों किया गया? क्या बोलने वाले को अपने हिताहित का भान नहीं रहता? अवश्य रहता ही है। फिर भी नीतिकारों ने भाषाविवेक को अत्यधिक महत्त्व दिया है। गांधीजी ने कहीं लिखा है—'मौन सोना है, तो बोलना चांदी है' इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि व्यक्ति बोले अवश्य, पर सावद्य न बोले, कर्कश न बोले।

मत बोलो अणगमती वाणी

साध्वी कान्तयशा

चिंतन-मनन की स्वतंत्रता प्राणीमात्र में विद्यमान है। एक चिंतक जहां कंदराओं में बैठकर, साधना की गहराइयों में डूब परम सत्य को पा सकता है, वहीं सामाजिकता और समरसता के लिए व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में, परिवेश में रहकर ही चिंतन-मनन एवं निदिध्यासन करता है। समाज में रहते हुए आनंद की स्रोतस्विनी बहाने के लिए सामाजिक समरसता अपेक्षित है।

समाज यानी मनुष्यों का समूह। समाज में रहते हुए ही मनुष्य विकास के उन्मुक्त गगन में उड़ान भरता है और अपनी लक्षित मंजिल को पाता है, लेकिन समाज में रहने वाले व्यक्तियों से जो संबंध स्थापित होते हैं उनका माध्यम बनती है भाषा। भाषा ही विचाराभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हो सकती है। भाषा से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान होती है। व्यक्ति उदार मनोवृत्ति का है या संकुचित विचारधारा वाला है, इसकी पहचान भाषा के माध्यम से सरलता से हो सकती है।

व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का माध्यम भाषा ही है। वह कौन-सी भाषा है, जिसका प्रयोग कर व्यक्ति अपने मन की मुराद पूरी कर सके? दसवें आलियं सूत्र के 'वक्कशुद्धि' में स्पष्ट कहा गया है।—'चउण्हं खलु भासाणं'—भाषा के चार प्रकार हैं—(1) अवक्तव्य सत्य (2) सत्यमृषा (3) मृषा (4) असत्याऽमृषा। इस प्रकार कहा गया कि जो प्रज्ञावान है वह 'असत्याऽमृषा' (व्यवहार-भाषा) और सत्यभाषा—जो अनवद्य, मृदु और संदेह रहित हो—उसे सोच-विचारकर बोले—

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसं दिद्धं, गिरं भासेज्ज पन्नवं।।

सवाल किया जा सकता है कि बोलने के बारे में इतना विधान क्यों किया गया? क्या बोलने वाले को अपने हिताहित का भान नहीं रहता? अवश्य रहता ही है। फिर भी नीतिकारों ने भाषाविवेक को अत्यधिक महत्त्व दिया है। गांधीजी ने कहीं लिखा है—'मौन सोना है, तो बोलना चांदी है' इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि व्यक्ति बोले अवश्य, पर सावद्य न बोले, कर्कश न बोले। क्योंकि मौन गुप्ति है। गुप्ति की साधना व्यक्ति स्वकल्याणार्थ कर सकता है। पर भाषा समिति है। समिति का लाभ श्रोता और वक्ता दोनों को मिल सकता है। भाषा समिति के बारे में गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने स्पष्ट निर्देश देते हुए अपने एक गीत में कहा है—

भाषा समिति सिखावै रे, विचारो फिर बोलो,
साचो मारग दिखावै रे,
मत बोलो अणगमती वाणी कर्कश और कठोर,
साची कहणी समय देखकर करके पूरो गौर,
नहीं तर चुप होलो।।

यहां थोड़ी असमंजस की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। एक तरफ तो यह कहा जाता है कि मौन का आलंबन लो और दूसरी तरफ भाषाविवेक का विधान किया गया है। यदि मननपूर्वक सोचें तो असमंजस जैसी बात नहीं है। 'मौन का आलंबन' लेने का तात्पर्य न बोलना नहीं है, अपितु विवेकपूर्वक बोलना है। यही स्थिति स्पष्ट करती है कि कैसे बोले? क्या बोले? उत्तराध्ययन सूत्र में बोलने का विधान करते हुए लिखा है—

ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वार।

बिना पूछे कुछ न बोलें, पूछने पर असत्य न बोलें।

कर्कश भाषा व्यक्ति के संबंधों में कटुता पैदा करती है। कटुता से व्यक्ति स्वास्थ्य की अमूल्य निधि को खो देता है।

नीतिकारों ने लिखा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्—

सत्य बोलें, प्रिय बोलें, पर अप्रिय सत्य बोलने का परहेज करें।

आचारांग में लिखा है—

तत्रमृषा सत्यामृषा च साधूनां तावन्न वांच्या,

सत्याऽपि या कर्कशादि गुणोपेता सा न वाच्या

मुनि सत्यभाषा का प्रयोग भी सोच-विचारकर करे—ऐसा क्यों कहा? स्पष्ट है, मुनि देखता है कि अमुक चोर यहां से जा रहा है, उसे अवगति है, पर सिपाही के पूछने पर वह मुनि मौन धारण करता है। क्योंकि अगर मुनि बता दे कि यहां से जो जा रहा है—वह व्यक्ति चोर है, तो शायद हिंसा का निमित्त मुनि बन सकता है। ऐसे समय में मुनि मौन का आलंबन ले, यही श्रेयस्कर है।

लाओत्सो ने तो यहां तक लिख दिया कि जैसे रोती हुई चिड़िया के लिए घोसला विश्राम-स्थल है वैसे ही अशांत एवं तनावग्रस्त व्यक्ति के लिए मौन विश्राम-स्थल है। मौन से व्यक्ति को आत्मिक आह्लाद की अनुभूति होती है। मौन से व्यक्ति समय प्रबंधन को अच्छी तरह से साध सकता है। मौन करने वाला व्यक्ति काफी झगड़ों-झंझटों से अपने-आप को बचा लेता है और विशेष राहत का अनुभव करता है। मौन करने वाला व्यक्ति 'ध्यान-स्वाध्याय' में अच्छी प्रगति कर सकता है। कभी-कभी बोलकर व्यक्ति तनावग्रस्त स्थिति में चला जाता है और सोचने को विवश हो जाता है कि 'मैं बोला ही क्यों?' इन सब स्थितियों का आकलन कर व्यक्ति के लिए मौन का आलंबन अत्यधिक अपेक्षित है।

प्रश्न मस्तिष्क में गुंजायमान होता है कि मौन की इतनी यशोगाथाएं गाई गईं तो क्या जीवन-भर के लिए व्यक्ति मौन कर ले? नहीं, निम्ननिर्दिष्ट स्थलों पर व्यक्ति मौन करे तो साधना में निखार आ सकता है—1. भोजन के समय 2. चलते समय 3. बड़ों के सामने 4. सभास्थलों में 5. शयन से पूर्व 6. श्मशान भूमि पर 7. वाणी की प्रियता बढ़ाने के लिए 8. दिव्यआत्माओं से संपर्क साधने के लिए 9. समस्या से समाधान पाने के लिए 10. रोगमुक्ति के लिए 11. स्मृति-विकास के लिए। कुछ व्यक्ति बातूनी होते हैं, जो हर समय भाषा के पुद्गलों को बिखेरते ही रहते हैं। सार्थक-निरर्थक का उन्हें भान तक नहीं रहता। गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने 'संस्कार बोध' के माध्यम से उन व्यक्तियों को बोध देते हुए लिखा है—

व्यर्थ बात में क्यों कभी, करें समय बरबाद।

बातेरी की बिगड़ती, रखें सूत्र यह याद।।

मानवमात्र के लिए अपेक्षित है कि ऐसे सूत्रों को स्मृति में रखकर उन पर आचरण करे। अपना अमूल्य समय व्यर्थ बातों में न बिताए। क्योंकि ज्यादा बोलना स्वयं के लिए भी अहितकर होता है और दूसरों के लिए भी अहितकर है। बोलते समय भाषा समिति का विवेक प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। विवेकहीन भाषा का प्रयोग द्वंद्व का कारण बनता है।

लिंकन से एक व्यक्ति ने पूछा—भाषण से पूर्व आप कितना सोचते हैं? उन्होंने कहा—दस मिनट का भाषण देने के लिए एक मिनट सोचता हूं और अगर दो मिनट का भाषण देना होता है तो मैं रात-भर नहीं सो सकता। चिंतन करता हूं, क्योंकि सार-संक्षेप कहने के लिए सारे कचरे को हटाकर हीरा चुनना होता है।

स्पष्ट है—कम बोलने वाले व्यक्ति का सम्मान बढ़ता है और उसके भाषा के पुद्गल सबको सुहावने लगते हैं। अतः जीवन-निर्माण के लिए अपेक्षित है—व्यक्ति भाषा समिति का सम्यक् उपयोग कर सत्-चित्त-आनंद का अनुभव करे। ❖

आज का विज्ञान एकांगी होने के कारण वास्तव में पूर्ण विज्ञान नहीं है। विज्ञान की दृष्टि समग्रता लिए हुए ही होनी चाहिए। आज का विज्ञान बाजार के हाथों बिक गया है। विज्ञान का उपयोग मनुष्य की आंतरिक शक्ति को बढ़ाने में नहीं, बल्कि उसके अधिकाधिक उपभोग की लालसा को बढ़ाकर मानव-मन को अशांत करने में हो रहा है। 'विकास', 'प्रगति', 'आधुनिकता' आदि शब्दों के साथ आज व्यभिचार हो रहा है। इनके विकृत अर्थों के प्रचार से लोगों की—खासकर नई पीढ़ी की मानसिकता दूषित की जा रही है। भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना प्रगति या विकास नहीं है।

—सिद्धराज ढड्ढा

आज अपेक्षा है—अहिंसा एक प्रतिरोधी तंत्र के रूप में उभरकर सामने आए। अहिंसा की प्रतिरोधी ताकत जितनी मजबूत होगी, हिंसा की आक्रामकता स्वतः मंद होती चली जाएगी। आज अपेक्षा है—समाज का ऐसा प्रारूप सामने आए जिसमें नैतिकता प्रथम स्थान पर रहे। कोई भी व्यक्ति नैतिक बल पर ही ऊंचा माना जाए। शरीरबल, धनबल और सत्ताबल दोयम स्थान पर रहे।

हिंसा : कारण—निवारण

साध्वी मुदितयशा

हिंसा का जन्म कहां होता है? हिंसा को उद्दीपन देने वाले कारक तत्त्व कौन-से हैं? क्या हिंसा जीवन की अनिवार्यता है? हिंसा का परिहार संभव है या नहीं? यदि नहीं तो फिर अहिंसा की चर्चा क्यों? हिंसा-विरति का उपदेश क्यों? इन सारे प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो अहिंसा का नया दर्शन उभरकर सामने आता है।

हिंसा का जन्म व्यक्ति के मस्तिष्क में होता है। मस्तिष्क की विकृति विचार को प्रभावित करती है। धीरे-धीरे व्यवहार में बदलाव आने लगता है। एक सौम्य स्वभाव वाला व्यक्ति भी लड़ाकू बन जाता है। भद्रता आक्रामकता के आसन पर आरूढ़ हो जाती है। इसलिए मस्तिष्क की स्वस्थता अहिंसा के विकास की अनिवार्य शर्त है।

हिंसा : वर्तमान युग की बड़ी समस्या

अहिंसा और हिंसा—ये शब्द नए नहीं हैं। इनका अस्तित्व सदा से रहा है। हिंसा प्राचीन युग में भी होती थी, लेकिन आज अकारण होने वाली हिंसा का 'ग्राफ' तेजी से ऊपर उठ रहा है। एक छोटा-सा बच्चा भी अपने हाथ में पिस्तोल थामे रहता है। व्यक्ति अपने घर में आराम से बैठा है। अकस्मात् कोई द्वार खटखटाता है। किसी बहाने से घर में घुसता है और पूरे परिवार को मौत के घाट उतार देता है।

आज हिंसा एक 'व्यवसाय' बनती जा रही है। उसे एक सशक्त हथियार और समस्याओं के समाधान के रूप में प्रतिष्ठा मिल रही है। हिंसा के प्रति न केवल आकर्षण बढ़ रहा है, उसके नए-नए तरीके भी ईजाद हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में बहुत आवश्यक है—हिंसा के उद्दीपक कारणों की मीमांसा और उनके निराकरण का प्रयास।

असंतुलित अर्थव्यवस्था और विषमता

हिंसा को उद्दीपन देने वाला प्रमुख कारक तत्त्व है—अर्थ-व्यवस्था का असंतुलन और समाज में व्याप्त विषमता। समाज का एक छोटा-सा वर्ग अट्टालिकाओं में ऐश कर रहा है, वहीं एक बड़ा समुदाय अभावों का जीवन जी रहा है। एक वर्ग विलासिता के शिखर पर है तो दूसरा वर्ग अनिवार्य अपेक्षाओं के लिए भी मोहताज बना हुआ है।

संन्यासी जंगल में घूम रहा था। अकस्मात् एक कृशकाय व्यक्ति पर नजर पड़ी। देखा—वह एक-एक पौधे को बड़े गौर से निहार रहा था। उन्हें बार-बार सूंघ रहा था। संन्यासी ने पूछ लिया—अरे भाई! तुम यहां इतने गौर से क्या देख रहे हो? क्या तुम्हें इन पौधों के गुणधर्म की पहचान है? वह बोला—महाशय। मैं एक गरीब आदमी हूं। पिछले पंद्रह दिनों से भरपेट भोजन भी सुलभ नहीं हो सका। किसी ने बताया—तुम इस जंगल से अमुक 'जड़ी' ले आओ। उसका सेवन करो, पंद्रह दिनों तक तुम्हें क्षुधा का अनुभव भी नहीं होगा। आज मैं यहां उसी 'जड़ी' की खोज कर रहा हूं। संन्यासी कुछ कदम आगे बढ़ा। देखा—एक हृष्ट-पुष्ट और चेहरे से रौबदार व्यक्ति अलग-अलग पौधों के पास जाता है। उन्हें सूंघता है और आगे निकल जाता है। संन्यासी ने उससे भी वही प्रश्न पूछ लिया। वह बोला—महाशय! मेरे पास धन की कोई कमी नहीं है। पत्नी, बच्चे, नौकर-चाकर सब अनुकूल हैं। सब-कुछ होने के बावजूद पिछले पंद्रह दिनों से खुलकर भूख नहीं लग रही है। किसी ने मुझे बताया—इस जंगल से अमुक 'जड़ी' ले आओ, उसका सेवन करो, तुम्हें खुलकर भूख लगने लग जाएगी। महात्मा मन-ही-मन हंसा और बोला—वाह विधाता! कैसी विचित्र है तुम्हारी लीला!! कोई रोटी को तरस रहा है तो कोई भूख को। किसी के पास खाने को नहीं है तो कोई सब-कुछ पास में होने पर भी खा नहीं पाता।

यह घटना समाज में व्याप्त विषमता का सुंदर चित्र प्रस्तुत करती है। विषमता की खाई जब चौड़ी होने लगती है, तब मन में आक्रोश का ज्वालामुखी फूटता है और व्यक्ति हिंसा पर उतर आता है।

भोगवाद और बढ़ती अकांक्षाएं

हिंसा का एक बड़ा कारण है—भोगवादी दृष्टिकोण। वर्तमान सभ्यता की नींव में भोगवाद है। त्याग का धरातल खिसकता-सा नजर आ रहा है। जब दृष्टि सुविधावाद पर केंद्रित होती है, आकांक्षाएं द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ने लगती हैं तब विवेक आंख मूंद लेता है। आज संचार-साधनों ने भी मनुष्य की भोगाकांक्षा को तीव्रता से उभारने का प्रयास किया है। यही वजह है कि आज अनावश्यक व विलासिता की वस्तुएं भी अनिवार्यता के कटघरे में आ गई हैं। भोगासक्त मनुष्य अपने-आप को सुंदर प्रदर्शित करना चाहता है। वह इसके लिए नए-नए कृत्रिम साधनों का इस्तेमाल करता है। कृत्रिम प्रसाधन सामग्री का निर्माण हिंसा की एक जीवंत दास्तान है। कितने पशुओं के प्राणों को नाहक ग्रस लिया जाता है। उन्हें निर्ममता से पीटा जाता है। किसी का हृदय निकाल लिया जाता है, तो किसी की आंखें। किसी के पैर काट दिए जाते हैं, तो किसी की चमड़ी उधेड़ दी जाती है। मनुष्य भूल जाता है कि हिंसा से निर्मित ये कृत्रिम साधन मात्र एक छलावा हैं। सौंदर्य का एक क्षणिक एहसास हैं।

हम युद्ध और व्यवसाय आदि में होने वाली बड़ी हिंसा की बात छोड़ भी दें, सामान्य स्तर पर होने वाली हिंसा के आंकड़े भी अचंभित करने वाले हैं। सर्वेक्षण के अनुसार औसतन एक वर्ष में विश्व में तीन लाख से अधिक हत्याएं और आठ लाख से अधिक बलात्कार होते हैं। आज परिवार के अंदर होने वाली हिंसा भी सीमाएं लांघ चुकी है। थोड़ा-सा स्वार्थ टकराता है कि भाई भाई का जानी-दुश्मन बन जाता है। दहेज के नाम पर बहू को जिंदा जला दिया जाता है। पति-पत्नी की हल्की-सी अनबन 'तलाक' के रूप में बदल जाती है।

अधिकांश हिंसक घटनाओं के मूल में है—आधिपत्य की मनोवृत्ति, दूसरों के हक को छीनने की मनोवृत्ति, प्राप्त संसाधनों में असंतोष और दूसरों के संसाधन हड़पने की मानसिकता।

विकास की गलत अवधारणा

एक युग था, दलित वर्ग अपने जीवन को ईश्वर का प्रसाद और कर्म का फल मानकर मौन रह जाता था। आज कोई भी वर्ग दबकर रहना नहीं चाहता। अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना अपना हक मानने लगा है। ऐसी स्थिति में यदि हमें हिंसा के बुनियादी कारणों को समाप्त करना है तो विकास की अवधारणा को बदलना होगा। दूसरों के प्रति अन्याय और शोषण के आधार पर खड़ा होने वाला विकास का प्रासाद कभी भी ढह सकता है। विषमता और आधिपत्य पर आधारित आधुनिक विकास का मॉडल कभी भी टिकाऊ नहीं हो सकता। विकास की अवधारणा समय के साथ बदलती रहती है। एक समय था जब विकास की अवधारणा चारित्रिक मूल्यों पर आधारित थी। आज 'चरित्र' गौण बन गया। 'अर्थ' केंद्र में आ गया। वर्तमान विकास की अवधारणा पदार्थ जगत के विस्तार पर आधारित है। येन-केन-प्रकारेण पदार्थ का विकास होना चाहिए—इस सोच ने हिंसा को खुलकर पनपने का मौका दिया।

कैसे हो अहिंसा की चेतना का विकास

अहिंसा के विकास की दृष्टि से आज अपेक्षा है—विकास की एक समग्र अवधारणा बने। आर्थिक विकास और चारित्रिक विकास दोनों की युति हो। अर्थशास्त्रीय अवधारणा को चारित्रिक मूल्यों से अनुस्यूत करके अनेक समस्याओं को टाला जा सकता है। अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

आज अपेक्षा है—अहिंसा एक प्रतिरोधी तंत्र के रूप में उभरकर सामने आए। अहिंसा की प्रतिरोधी ताकत जितनी मजबूत होगी, हिंसा की आक्रामकता स्वतः मंद होती चली जाएगी। आज अपेक्षा है—समाज का ऐसा प्रारूप सामने आए जिसमें नैतिकता प्रथम स्थान पर रहे। कोई भी व्यक्ति नैतिक बल पर ही ऊंचा माना जाए। शरीरबल, धनबल और सत्ताबल दोयम स्थान पर रहे।

आज अपेक्षा है—छोटे-से-छोटे प्राणी की भी अनावश्यक हिंसा न हो। किसी अंश में हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, पर ऐसी अनिवार्य हिंसा कभी विध्वंस नहीं रचती। ऐसी अनिवार्य हिंसा कभी मानव जाति के अस्तित्व के लिए संकट और चुनौती नहीं बनती। आज अपेक्षा है—व्यक्ति असीम आकांक्षा और असीम भोगोपभोग का रास्ता छोड़कर संयम और सादगी का रास्ता अपनाए। सुकरात ने ठीक कहा था—'यदि हम सही अर्थों में सुख पाना चाहते हैं तो पहले हमें यह निर्णय करना होगा कि कितनी चीजों के बिना भी हम अपना काम चला सकते हैं।'

आज अपेक्षा है—प्रयोग और प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन हो। अहिंसा, करुणा और नैतिकता के संस्कार मज्जा तक पहुंचकर स्थाई भाव बन जाएं। अहिंसक चेतना के जागरण और समाज में नैतिक मूल्यों के विकास का सर्वोत्तम उपाय यही है। ❖

'आत्मानंद! हम यह मानने पर बाध्य हो गए हैं कि तुम हमारे राज्य के सबसे बुद्धिमान आदमी हो। तुमने जिस तरह टेक्टी से उतरकर एक असंभव कार्य को संभव कर दिखलाया है, वह सिर्फ तुम्हारे ही जैसे बुद्धिमान व्यक्ति के वश की बात है। लेकिन इसके साथ ही तुममें एक बुराई है, तुम बेईमान हो।

चतुर स्वर्णकार

सत्यदेव बारहठ

बात बहुत पुरानी है। प्रतापगढ़ नाम का एक राज्य था। यहां का राजा प्रतापसिंह एक कुशल, न्यायप्रिय और प्रजापालक राजा था इसलिए प्रजा सुखी और संपन्न थी। परंतु राजा अपराध और अपराधियों के मामले में बेहद कठोर और निर्मम था। उसने अपने राज्य में अपराधियों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था की थी। राज्य के एक छोर पर लगभग तीन सौ फुट ऊंची एक स्तूपाकार मीनार थी जिसका ऊपरी छोर इतना लंबा-चौड़ा था कि उसमें एक साथ डेढ़सौ-दो सौ व्यक्ति रखे जा सकते थे। इस स्तूपाकार मीनार को टेक्टी कहा जाता था। राजा प्रतापसिंह को जब-कभी किसी अपराधी को सजा देनी होती तो उसे एक सीढ़ी के सहारे उस टेक्टी के ऊपर पहुंचा दिया जाता था। फिर सीढ़ी को हटाकर राजा के महल में पहुंचा दिया जाता था। नियमानुसार इस सीढ़ी का उपयोग मात्र राजा के आदेश पर ही किया जा सकता था।

टेक्टी पर जिन अपराधियों को चढ़ाया जाता था, उन्हें खाना-पीना कुछ नहीं दिया जाता था। फलतः कुछ दिन के बाद वे अपराधी भूख-प्यास से तड़प-तड़पकर मर जाते थे।

इस राज्य में आत्मानंद और परमानंद नाम के दो सगे भाई भी रहते थे। ये जाति के स्वर्णकार थे। इनके स्वभाव में जमीन-आसमान का फर्क था। बड़ा भाई आत्मानंद एक बुद्धिमान इंसान और कुशल कारीगर था पर छोटा भाई परमानंद ईर्ष्यालु स्वभाव का एक निकम्मा इंसान। इसीलिए आत्मानंद एक खुशहाल जिंदगी व्यतीत कर रहा था तो परमानंद तंगहाल और परेशान जिंदगी।

आत्मनंद ने बुद्धि और कुशल कारीगरी के बल पर अपने बेटे के लिए पीतल के एक हाथी का निर्माण किया जो यंत्रों की सहायता से सजीव हाथी की तरह चलता-फिरता था। जब यह हाथी चलता तो टन-टन की आवाज आस-पास के वातावरण में गूंजने लगती थी। आत्मानंद का बेटा इसी हाथी पर चढ़कर विद्यालय आता-जाता था।

संयोगवश एक दिन राजकुमार अजयप्रतापसिंह ने आत्मानंद के बेटे को इस अनोखे हाथी पर चढ़कर विद्यालय आते देखा तो उसके मन में भी ऐसे ही हाथी पर चढ़ने की इच्छा जाग उठी। प्रतापसिंह अपने इकलौते बेटे को बेहद प्यार करते थे। सारी बात सुनने के बाद अगले ही दिन उन्होंने आत्मानंद को अपने राजमहल में बुलवाया और उसे उसी तरह का सोने का हाथी बनाने का आदेश दिया। राजा से आदेश पाते ही आत्मानंद हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में बोला, 'महाराज, आपने मुझे सेंवा का मौका दिया, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। आप मुझे खजाने से चौदह मन सोना दिलवाने की आज्ञा दें, मैं महीने-भर में हाथी बनाकर आपकी सेवा में हाजिर कर दूंगा।'

'ठीक है' कहकर राजा ने महामंत्री को आदेश दिया कि खजाने से एक-एक मन तोलकर चौदह मन सोना स्वर्णकार के घर पहुंचा दिया जाए। क्योंकि उस

समय वहां पर एक ही बार में चौदह मन सोना तोलने का कोई यंत्र नहीं था।

राजा के आदेशानुसार महामंत्री ने चौदह मन सोना आत्मानंद के घर पहुंचवा दिया। सोना घर आते ही आत्मानंद ने हाथी का निर्माण कार्य शुरू कर दिया और महीना पूरा होते-होते हाथी तैयार कर राजा के सामने पेश कर दिया। आत्मानंद की इस कुशल कलाकारी से राजा बहुत खुश हुए। उसे उचित पारिश्रमिक और इनाम देकर विदा किया।

राजा का हाथी बनाने के बाद आत्मानंद के और अधिक ठाठ-बाट हो गए।

जब आत्मानंद के छोटे भाई परमानंद ने यह देखा तो उसका माथा ठनका। उसने मन-ही-मन सोचा कि जरूर आत्मानंद ने राजा के शुद्ध सोने में मिलावट की है। वह राजा के पास जा पहुंचा और अपने भाई के खिलाफ राजा के कान भर दिए। सुनकर राजा को संदेह हुआ तो उसने दूसरे स्वर्णकार को बुलवाकर हाथी की जांच करवाई। स्वर्णकार कुछ देर तक सोने के हाथी को जांचता-परखता रहा, फिर घोषणा की कि हाथी के सोने में कोई मिलावट नहीं की गई है, वह विशुद्ध है। स्वर्णकार की इस घोषणा को सुन राजा ने परमानंद को फटकारकर महल से निकलवा दिया।

परंतु परमानंद यह बात मानने को कतई तैयार न था कि उसके भाई ने राजा के साथ कोई बेईमानी नहीं की है। उसने इस बेईमानी का पता लगाने का जिम्मा अपनी पत्नी को सौंप दिया। अपने पति के कहने पर परमानंद की पत्नी ने अपनी जेठानी से इस संबंध में पूछताछ की, परंतु उसे भी निराशा ही हाथ लगी क्योंकि आत्मानंद ने इस संबंध में अपनी पत्नी को कुछ नहीं बतलाया था। फिर एक दिन बड़े प्यार से उसने जेठानी को उकसाया, 'दीदी, तुम कैसी पत्नी हो जिसे अपने पति के दिल की बात मालूम नहीं?'

दूसरे दिन आत्मानंद की पत्नी ने हठपूर्वक अपने पति से हाथी की बात पूछी तो वह बोला, 'तुम जब इतना जिद कर रही हो तो सुनो! मैंने राजा के सोने में कोई मिलावट नहीं की है बल्कि चौदह मन की जगह उसे मात्र दस मन का ही हाथी बनाकर दिया है।'

'क्या कह रहे हो?' आत्मानंद की पत्नी ने डरते हुए आश्चर्य से पूछा। 'अगर राजा को तुम्हारी इतनी बड़ी बेईमानी का पता चल गया तो?'

'कैसे चलेगा? यहां ऐसा कोई यंत्र नहीं है जिससे एक ही साथ चौदह मन की कोई चीज तौली जा सके?'

'नहीं।' आत्मानंद की पत्नी बोली, 'फिर भी कोई ऐसी तरकीब तो होगी जिससे ऐसा किया जा सके?'

'किसी और के पास तो नहीं, पर मेरे पास है।'

'कौन-सी तरकीब?'

'बहुत ही साधारण।' आत्मानंद ने बतलाना शुरू किया, 'हमारे घर से थोड़ी दूरी पर एक तालाब है। उस तालाब में एक नाव डाल दो फिर उस नाव पर राजा के हाथी को चढ़ा दो। ऐसा करने पर नाव जहां तक पानी में डूबे, वहां किसी चीज से चिह्न लगा दो फिर नाव से हाथी को उतारकर कोई अन्य वस्तु उतनी ही नाव में भरो जिससे नाव पहले लगाए चिह्न तक पानी में डूब जाए। अब उस चीज की तौल निकाल लो। यही हाथी की तौल होगी। अगर राजा इस तरीके से अपने हाथी को तुलवाए तो उसका वजन चौदह मन न होकर सिर्फ दस मन ही होगा।'

'ओह!' आत्मानंद की पत्नी अपने पति की बुद्धि की कायल होती हुई बोली।

दूसरे दिन आत्मानंद की मूर्ख पत्नी ने अपने पति की बतलाई सारी बातें देवरानी को बतला दीं।

परमानंद को जब अपनी पत्नी से ये सारी बातें मालूम हुईं तो उसकी आंखें चमक उठीं। वह दौड़ा-दौड़ा राजा के पास पहुंचा और सारी बातें उन्हें बतला दीं। उसकी बातें सुन राजा की आंखें विस्मय से फटती चली गईं। इतना बड़ा धोखा, इतनी बड़ी बेईमानी। राजा की आंखें क्रोध से जल उठीं। उन्होंने फौरन सैनिकों से आत्मानंद को बुलवाया। फिर हाथी की तौल उसके ही द्वारा बतलाए गए तरीके से करवाई। ऐसा होते ही सचाई सामने आ गई। हाथी मात्र दस मन का ही था।

राजा ने आत्मानंद को टेक्टी पर चढ़ा देने का हुक्म जारी कर दिया। राजा का हुक्म पाते ही सैनिकों ने आत्मानंद को टेक्टी पर चढ़ा दिया। आत्मानंद की

पत्नी ने अपना सिर पीट लिया। परंतु अब क्या हो सकता था?

वह प्रतिदिन शाम को उस टेक्टी के नीचे आकर अपने-आप को कोसती और रोने लगती।

अपनी पत्नी के इस विलाप से दुखी आत्मानंद परेशान हो उठा और फिर इस परेशानी से बचने के लिए उसकी तेज बुद्धि टेक्टी से उतरने का उपाय सोचने लगी। आखिरकार उसने समस्या का निदान ढूंढ़ ही लिया।

एक दिन शाम को जब उसकी पत्नी टेक्टी के नीचे आई तो उसने उसे पुकारकर कहा कि मैंने टेक्टी से उतरने का उपाय सोच लिया है। कल पूर्णिमा की रात है और मैं कल ही इस उपाय पर अमल करूंगा। तुम कल रात्रि के पहले प्रहर में यहां आना और आते समय एक पतला धागा, जिसकी लंबाई टेक्टी की ऊंचाई से थोड़ी ही ज्यादा हो, साथ लेती आना। साथ ही इस पतले धागे से थोड़ा मोटा धागा, फिर क्रमशः इससे मोटी डोरी, फिर रस्सी, इससे मोटी और फिर इतनी मोटी रस्सी लाना जो एक आदमी का भार आसानी से सह सके। इसके साथ ही थोड़ा गुड़ और दही भी लेती आना।

अपने पति के कहे अनुसार आत्मानंद की पत्नी दूसरे दिन रात्रि का प्रथम प्रहर शुरू होते ही टेक्टी के नीचे पहुंच गई। वह अपने साथ पति द्वारा बतलाई गई सारी चीजें लाई थी।

आत्मानंद की पत्नी ने अपने पति के बताए अनुसार दही मिला गुड़ टेक्टी की नींव के पास दीवार से सटाकर रख दिया फिर उससे पहले धागे का एक छोर उस गुड़ में टेक्टी की दीवार से लगाकर हल्के से फंसाने के बाद धागे का दूसरा छोर पकड़ा और उसे लिए सामने फैले विस्तृत खेत में आगे तक बढ़ती चली गई। वह रुकी तभी जब धागा पूरी तरह तन गया। ऐसा होते ही उसने धागे को जमीन पर रखा, फिर टेक्टी के पास आ बैठी।

उसके देखते-ही-देखते हजारों चींटियां गुड़ के आस-पास आ जुटीं और उनमें से अधिकांश टेक्टी से सटाकर रखे धागे के छोर से लिपट गईं। चींटियों का यह स्वभाव होता है कि यदि उनके खाने की कोई चीज किसी दीवार से सटाकर रखीं जाती है तो वे उसे लेकर दीवार पर ऊपर की ओर चढ़ती हैं। ऐसा ही उन्होंने धागे के गुड़ सने छोर के साथ भी किया और उसे पकड़ कर टेक्टी पर चढ़ने लगीं।

ऊपर टेक्टी की बाहरी चारदीवारी से झुका आत्मानंद चींटियों की इस कार्यवाही को ध्यान से देख रहा था। लगभग पांच घंटे बाद जब चींटियां टेक्टी पर पहुंच गईं तो उसने धागे का वह छोर थाम लिया, ऐसे में धागे का दूसरा छोर टेक्टी की नींव के पास था।

जैसे ही धागे का प्रथम छोर आत्मानंद के हाथ आया, उसने अपनी पत्नी से कहा, 'तुम इस धागे से मोटे धागे के एक छोर को बांध दो।'

आत्मानंद की पत्नी ने ऐसा ही किया। ऐसा होते ही आत्मानंद ने मोटे धागे को पतले धागे की मदद से ऊपर खींच लिया। इसके बाद क्रम से डोरी को, फिर पतली रस्सी को, फिर इससे मोटी रस्सी को और इसके बाद सबसे मोटी रस्सी को ऊपर खींच लिया। इधर टेक्टी पर अपनी मौत का इंतजार कर रहे लोगों ने जब आत्मानंद की इस कार्यवाही को देखा तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। अब उन्हें लगने लगा था कि वे फिर से जिंदा अपने परिवार-जनों के पास पहुंच जाएंगे।

आत्मानंद ने मोटी रस्सी का एक छोर टेक्टी की बाहरी चारदीवारी से बांधा और दूसरे छोर को नीचे लटका रहने दिया। फिर उसकी मदद से टेक्टी पर उपस्थित अन्य लोगों को नीचे उतारा और फिर खुद भी नीचे उतर आया।

दूसरे दिन जब आत्मानंद के भाई परमानंद ने अपने भाई को जीती-जागती अवस्था में अपनी पत्नी और बच्चों के साथ देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने तत्काल इसकी खबर राजा को दी। उसकी बात पर पलभर को तो राजा को विश्वास ही नहीं हुआ। आज तक ऐसा कोई इंसान नहीं हुआ था जो टेक्टी पर चढ़ने के बाद जिंदा नीचे उतर पाया हो। लेकिन परमानंद के अनुसार आत्मानंद ने इस असंभव कार्य को संभव बना दिया था। राजा ने फौरन आत्मानंद को अपने राज दरबार में बुलाया। वह यह जानने को उतावला था कि आखिर आत्मानंद टेक्टी से उतरा कैसे? जब आत्मानंद

डर से कांपता राजा के पास पहुंचा तो राजा ने उससे सबसे पहले यही सवाल किया। आत्मानंद ने राजा के सामने सारी बात सच-सच बता दी। पूरी बात सुनकर न सिर्फ राजा, बल्कि अन्य दरबारियों ने भी दांतों तले अंगली दबा ली। सबके-सब आत्मानंद की कुशाग्रबुद्धि के कायल हो गए।

राजा प्रतापसिंह न जाने कितनी देर तक आश्चर्य के सागर में डूबे आत्मानंद को देखते रहे। फिर गंभीर स्वर में बोले, 'आत्मानंद! हम यह मानने पर बाध्य हो गए हैं कि तुम हमारे राज्य के सबसे बुद्धिमान आदमी हो। तुमने जिस तरह टेक्टी से उतरकर एक असंभव कार्य को संभव कर दिखलाया है, वह सिर्फ तुम्हारे ही जैसे बुद्धिमान व्यक्ति के वश की बात है। लेकिन इसके साथ ही तुममें एक बुराई है, तुम बेईमान हो, यदि तुम भरे दरबार में अपने इस अवगुण को छोड़ने की घोषणा करो तो हम तुम्हें अपना सलाहकार नियुक्त कर लेंगे, क्योंकि हमें और हमारे राज्य को तुम्हारे जैसे बुद्धिमान व्यक्ति की सख्त जरूरत है।'

आत्मानंद ने भरे दरबार में अपनी बेईमानी से तौबा करने की घोषणा कर दी। उसके ऐसा करते ही राजा प्रतापसिंह अपने राज-सिंहासन से उठकर उसके पास आए और उसे गले से लगा लिया। ❖

स्वस्थ समाज संरचना.....पृष्ठ 48 का शेष

नियत दिनचर्या का सावधिक व्रत लेकर बड़े आरंभ-सभारंभ से बच सकते हैं। इस व्रत के जो अतिचार होते हैं, व्रत ग्रहण करने वाले को इन्हें जानना चाहिए और उनके असद् आचरण से बचना चाहिए।

पौषधोपवास व्रत : साल में एक बार पूरे दिन और रात के लिए पौषध व्रत धारण किया जाता है। पौषधोपवास व्रत में—आसन-पान, स्वादिम-खादिम का प्रत्याख्यान करना होता है। अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान, किसी भी प्रकार के मणि-सुवर्ण पास रखने का प्रत्याख्यान, किसी प्रकार के विलेपन और फूल-माला आदि धारण करने का प्रत्याख्यान, किसी प्रकार के हिंसक शस्त्रों के व्यापार का प्रत्याख्यान इस व्रत में किया जाता है। उपरोक्त कोई भी कार्य करने और कराने का मन, वचन और काया से एक रात-दिन के लिए विसर्जन करने का संकल्प लिया जाता है।

इस पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार होते हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और उनके आचरण से बचना चाहिए—1. शय्या संथारे (सोने-बैठने का स्थान और बिस्तर) का प्रतिलेखन नहीं किया या असावधानी से किया हो, 2. शय्या संथारे का प्रमार्जन नहीं किया हो या असावधानी से किया हो, 3. उच्चार प्रश्रवण भूमि (मल-मूत्र, खंखार आदि का स्थान) का अवलोकन नहीं किया हो, असावधानी से किया हो, 4. पौषध व्रत के पालन में जागरूकता की जगह प्रमाद किया हो, 5. तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं—मैं इसके लिए प्रायश्चित्त करता हूं और सतत जागरूक रहने का अभ्यास करूंगा—ऐसा संकल्प करना चाहिए।

अतिथि संविभाग व्रत : स्थूल रूप से अपने अर्थ (धन) का राष्ट्र, समाज और परिवार में संविभाग करने का संकल्प इस व्रत में किया जाता है, क्योंकि यह माना जाता है कि मेरे ऊपर तीनों अंगों का ऋण है, उसको चुकाने के बाद मेरे पास जो भी अपने खर्च हेतु धन बचेगा उससे अपने और अपने परिवार हेतु बनाए गए प्रासुक और एषणीय भोजन-वस्त्र आदि में से संयमी-साधु, व्यक्तियों को यथासंभव संविभाग देकर उनके संयमी जीवन में सहयोगी बनूंगा। यह संविभाग मन से, वचन से, काया से करूंगा/कराऊंगा।' इसकी धारणा पांच तरह से की जाती है।

इस व्रत के निम्न अतिचार होते हैं जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनके आचरण से बचना चाहिए—1. एषणीय वस्तु को सचित वस्तु के ऊपर रखना, 2. एषणीय वस्तु को सचित वस्तु से ढकना, 3. समय का अतिक्रमण करना, 4. अपनी वस्तु को दूसरों की बताना, 5. मत्सर भाव से दान देना, 6. अप्रासुक और अनेषणीय वस्तु का दान देना, जैसे—साधु के निमित्त बनाकर, खरीदकर, समय को आगे-पीछे कर आदि।

यदि इनमें से कोई अतिचार दोष हो गया हो तो इसके लिए मिच्छामि दुक्कड़ं करने के साथ यह संकल्प किया जाता है कि मेरा यह दोष मिथ्या हो जाए। आगे से मैं इससे बचने के प्रति सजग रहूंगा।

इस प्रकार उपरोक्त संकल्पों के माध्यम से एक श्रेयस्-स्वस्थ समाज स्थापित किया जा सकता है। जो सामाजिक विषमता आज सर्वत्र व्याप्त है—उसका समाहार इन्हीं संकल्पों में निहित है। स्वस्थ समाज-संरचना के लिए इन संकल्पों को किसी संप्रदाय या धर्म की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त रखते हुए समाज के हर वर्ग के जागरूक-जनों को सक्रिय होना चाहिए। ❖

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

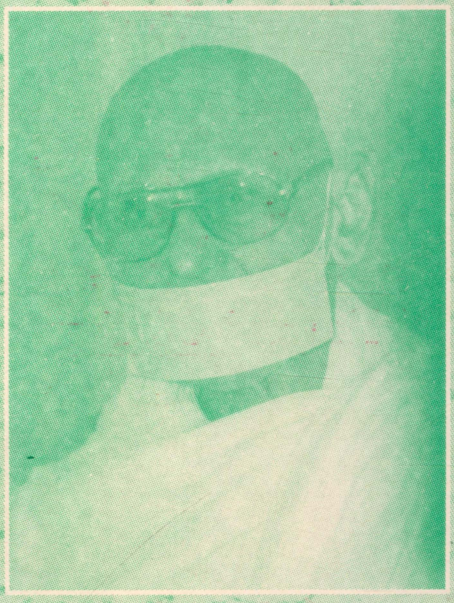

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, अक्टूबर, 2002 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

With best compliments from

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

TERAPANTH FOODS LTD.

(A Friends Group of Company)

Manufacturers and Exporters of Refined Freeflow Iodised Salt,
Pure Grade Industrial Salt and all Types of Edible and Industrial Grade Salts

Regd. Office :

MAITRI BHAWAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)

Tel : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687

e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।